

# अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र

# सर्वोदय जगत



( 1-2 मार्च, 2014 को सेवाग्राम में सम्पन्न सर्व सेवा संघ के 82वें अधिवेशन के मंच पर बैठे पदाधिकारी एवं विशिष्ट जन )

## मानव-स्वभाव की अच्छाई में अखण्ड विश्वास

हिंसात्मक तत्त्वों की ही तरह फूट और विभेद डालने वाली शक्तियों को भी काबू में रखा जा सकता है। हो सकता है, हिंसा में विश्वास करने वाला पक्ष मेरे कार्यों के प्रति अनुकूल प्रतिक्रिया न दिखाये; सम्भव है, जन-साधारण अविवेक से काम ले। हिंसा में विश्वास रखने वाला पक्ष मुझे अपना तरीका आजमा कर देखने का पूरा अवसर देगा और सर्वसाधारण की प्रतिक्रिया उसके सहज स्वभाव के ही कारण बिलकुल ठीक होगी। हो सकता है, मैं कल्पना-लोक में विचरण कर रहा होऊँ। लेकिन कोई भी सेनापति समस्त आकस्मिक परिस्थितियों के मुकाबले की तैयारी पहले से नहीं कर सकता। मैं तो इसे अपने जीवन में प्राप्त एक सुनहरा मौका मानता हूँ।

(यंग इंडिया, 20-3-1930)

—महात्मा गांधी

# सर्वोदय जगत

अहिंसक क्रान्तिका पाक्षिक मुख-पत्र

वर्ष : 37, अंक : 15

16-31 मार्च, 2014

सर्व सेवा संघ

द्वारा प्रकाशित

अहिंसक क्रान्तिका पाक्षिक मुख-पत्र

संपादक

बिमल कुमार

मो. 9235772595

प्रसार व्यवस्थापक

उमेश कुमार

मूल्य : पांच रुपये

शुल्क

वार्षिक : 100 रुपये

आजीवन : 1,000 रुपये

संपादकीय कार्यालय

सर्व सेवा संघ-प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी-221 001 (उ.प्र.)

फोन : 0542-2440-385/223

ईमेल: sarvodayajagat@gmail.com

sarvodayavns@yahoo.co.in

Website : sssprakashan.com

विज्ञापन दर

पूरा पृष्ठ : 2000 रुपये

आधा पृष्ठ : 1000 रुपये

चौथाई पृष्ठ : 500 रुपये

## अंदर के पृष्ठों पर...

1. कविताएं... 2
2. कार्यक्रम एवं मूल्य प्रतिष्ठा... 3
3. संकट लोकतंत्र का नहीं... 4
4. सामाजिक संगठन और... 7
5. गांधी और भगत सिंह... 9
6. गांधी का करिश्मा कायम... 13
7. प्रकृति के अधिकार... 14
8. पूंजीवाद का उदय... 15
9. वन बचे, पानी बचे, देश... 16
10. पानी स्वच्छ होने तक... 18
11. शांति-सद्भावना विद्यार्थी... 19
12. होली : धूलिवंदन का... 20

## कविताएं

# बड़ी विरासत है हम सबकी...

-शक्ति कुमार

नफरत की विचारधारा से उठते हुए गुबारों को।

सत्ता मत दे देना, साथी, गांधी के हत्यारों को।

देह गयी, जानी ही थी, पर उस विचार की चिरशुभ्रता।

बड़ी विरासत है हम सबकी, मानव-मानव की समता।

जो सद्भाव डुबी दे मन का, रीको उन मझधारों को।

अंठेजों ने फूट मचाई, भाईचारे को तोड़ा।

बापू ने कितने जतनों से अल्ला ईश्वर को जीड़ा।

उसी राम की करें सियासत, समझी इनके नारों को।

मुस्लिम, हिन्दू, ईसाई, सिख, हम सबकी यह धरती है।

सभी सुखी हों, सदियों से जो यही प्रार्थना करती है।

इस पावनता को छूने दी अपने दिल के तारों को।

## जागो मेरे भाई

-आदिल सरफरोश

इस व्यवस्था को तुम बदली,

उठी युवाओं घर से निकली,

भ्रष्टाचार से अब तो हीगी सीधी अपनी लड़ाई।

जागो-जागो-जागो-जागो-जागो मेरे भाई॥

चमन के इस प्यारे गुल को,

नेता लूट रहे हैं मुल्क को,

रिश्वतखोरी और दलाली की काली परछाई।

जागो-जागो-जागो-जागो-जागो मेरे भाई॥

गरीब की मुश्किल है रीटी,

अफसर काट रहे हैं बीटी,

लाचारों के खूँ से इनकी रबड़ी और मलाई।

जागो-जागो-जागो-जागो-जागो मेरे भाई॥

देशवालों का सपना टूटा,

जो भी आया जमकर लूटा,

घोटाले और कालेधन से बढ़ती है महंगाई।

जागो-जागो-जागो-जागो-जागो मेरे भाई॥

चुप क्यों ही कुछ तो बीली,

क्रांति वाली मशालें ले ली,

विश्व पटल पर और कितनी हीगी अपनी जग हँसाई।

जागो-जागो-जागो-जागो-जागो मेरे भाई॥

## कार्यक्रम एवं मूल्य प्रतिष्ठा की एकता

आजादी के बाद कई बार ऐसे दौर आये जब लोकशक्ति के माध्यम से अहिंसक क्रांति की सम्भावनाएँ प्रकट हुईं। पहला दौर तब आया था जब विनोबाजी ने भूदान, ग्रामदान, ग्राम-स्वराज्य के आंदोलनों का नेतृत्व किया था। दूसरा दौर सम्पूर्ण क्रांति आंदोलन का था, जिसका नेतृत्व जे.पी. ने किया था। तीसरा दौर तब आया जब पूंजीवादी-वैश्वीकरण के विरुद्ध आंदोलनों की एक शृंखला-सी चलती चली गयी, जो विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से प्रकट होती रही है।

यहां हमें कार्यक्रम एवं मूल्य प्रतिष्ठा (आंदोलन के मूल्यों की निरंतरता) की एकता व भिन्नता को समझना होगा। कार्यक्रम किसी एक समय या स्थान की तात्कालिक परिस्थिति के सापेक्ष होते हैं। उन परिस्थितियों को बदलने के लिए ये कार्यक्रम होते हैं, जो अन्यायपूर्ण या अनैतिक होते हैं। जब समय बदलता है, तो अन्याय एवं अनैतिकता नये तरह की परिस्थिति का निर्माण कर देती है। ऐसे में अन्याय एवं अनैतिकता को बदलने के लिए नये तरह के कार्यक्रम भी लेने होते हैं। लेकिन नये कार्यक्रमों के माध्यम से भी उन मूल्यों की निरंतरता बनी रहती है (प्रकट होती है) जो अन्याय एवं अनैतिकता का विकल्प प्रस्तुत करते हैं। सर्व सेवा संघ ने कार्यक्रम एवं मूल्य-प्रतिष्ठा की इस एकता को सदैव कायम रखा है।

दूसरी ओर जब कोई संगठन लोगों को केवल कुछ मुद्दों पर आंदोलन के लिए तैयार करते हैं, तो जिन मुद्दों पर आंदोलन होते हैं, उन मुद्दों के बदल जाने के बाद लोग आंदोलन से हट जाते हैं। समय बदलने के साथ, जब नये मुद्दों पर नये आंदोलन खड़े होते हैं, तो पुराने आंदोलन से उनकी कोई निरंतरता नहीं होती। इस प्रकार मुद्दे आधारित आंदोलन जब मूल्य प्रतिष्ठा के साथ नहीं जुड़े रहते हैं तो उनकी निरंतरता नहीं रहती तथा वे अहिंसक क्रांति का माध्यम बनने की सम्भावना भी नहीं रखते। जब हम मूल्यों की निरंतरता के अधिष्ठान पर अलग-अलग समय

पर नये-नये आंदोलन खड़े करते जाते हैं, तभी उनमें एक निरंतरता बनी रह सकती है।

पिछले 250-300 वर्षों के दौरान, पूंजीवादी विस्तारवाद ने हिंसा, शोषण, दोहन व अनैतिकता की शक्तियों को मजबूत करने के लिए कई संस्थाएं विकसित की थीं। बदलते समय के साथ हिंसा, शोषण, दोहन तथा अनैतिकता के स्वरूप भी बदलते रहे हैं। इसके विकल्प में, सत्य व अहिंसा के मूल्यों को स्थापित करने के लिए तथा अहिंसक क्रांति के कार्यक्रमों को खड़े करने के लिए, गांधीजी ने शाश्वत मूल्यों के साथ कई नये मूल्यों के अधिष्ठान पर आंदोलन खड़े किये। इन मूल्यों को उन्होंने आजादी की लड़ाई के साथ जोड़ दिया था। आजादी की लड़ाई में जो शक्तियां, इन मूल्यों से नहीं जुड़ीं वे आजादी के बाद पूंजीवादी विकास के मॉडल की समर्थक बनती चली गयीं।

गांधीजी ने जिन मूल्यों के अधिष्ठान पर आंदोलनों को खड़ा किया था, आजादी के बाद उनको आगे बढ़ाने का काम सर्वोदय विचार करता रहा। लोकसत्ता, स्वदेशी, श्रम की प्रतिष्ठा, ट्रस्टीशिप जैसे मूल्यों के अधिष्ठान पर आंदोलनों की शृंखला ने, अहिंसक क्रांति की अलख जलाये रखी तथा इनके कारण अन्याय, असत्य एवं अनैतिकता के विकल्प की निरंतरता बनी रहती है। अर्थात् सत्याग्रह एवं रचनात्मक कार्य उस निरंतरता को बनाये रखते हैं।

उदाहरण के लिए स्वदेशी के मूल्य के दो पहलू हैं। एक पहलू यह है कि लोकसत्ता निर्माण के लिए जरूरी है कि स्थानीय संसाधनों के आधार पर स्थानीय अर्थव्यवस्था खड़ी की जाये। अर्थात् संसाधनों के उपयोग के संदर्भ में भी तथा वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन को भी स्थानीय लोग प्राथमिकता दें। रचनात्मक कार्यक्रमों का एक पहलू भी यह है, वैकल्पिक रचना का आधार स्वदेशी होगा तभी वह पूंजीवादी शोषण को नकार सकेगा तथा उसका विकल्प प्रस्तुत कर सकेगा। इसी कारण स्वदेशी के मूल्य का दूसरा पहलू यह है कि यदि पूंजीवादी दूरस्थ केन्द्रों द्वारा स्थानीय संसाधनों या श्रम का शोषण-दोहन

किया जा रहा है तो उसके विरुद्ध व्यापक सत्याग्रह खड़ा किया जाये। इस प्रकार लोक स्वराज्य का स्वदेशी मूल्य सत्याग्रह एवं वैकल्पिक रचनात्मक कार्यक्रम—दोनों की आधारशिला रखता है।

इसी प्रकार शरीर-श्रम की प्रतिष्ठा के मूल्य के भी दो पहलू हैं। एक तो यह कि गांधीजी ने इसे टेक्नालॉजी के साथ जोड़कर प्रस्तुत किया था। पूंजीवाद के अंतर्गत उत्पादक श्रमिक को उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से बेदखल कर दिया गया था। स्वदेशी का मूल्य ऐसी किसी भी व्यवस्था को नकारता है जिसमें श्रमिक का स्वामित्व अपने श्रम व उत्पादन के साधनों पर न हो। गांधीजी को उत्पादन की ऐसी कोई व्यवस्था स्वीकार्य नहीं थी, जिसमें उत्पादक श्रमिक महज बाजार में श्रम बेचने वाली इकाई बनकर रह जाये। इसीलिए श्रम की एवं पूंजी की एकता के लिए उन्होंने श्रम की प्रतिष्ठा की बात की। लोकस्वराज्य में शरीर श्रम के मूल्य की प्रतिष्ठा का अर्थ यही है कि टेक्नालॉजी, श्रमिक एवं पूंजी की एकता के माध्यम से रचनात्मक कार्यक्रम खड़े किये जाएं। शरीर श्रम की प्रतिष्ठा के मूल्य का दूसरा पहलू यह होगा कि शरीर श्रम एवं बौद्धिक कार्य के नकली विभाजन को खतम किया जाये। इसका अर्थ केवल यह नहीं था कि बौद्धिक कार्य करने वाले शरीर श्रम भी करें, बल्कि इसका यह भी अर्थ था कि शरीर श्रम करने वाले भी बौद्धिक कार्य करें। लोकसत्ता-लोक स्वराज्य तभी वास्तविक हो सकेगा, जब श्रम करने वाले बौद्धिक कार्य भी करेंगे तथा श्रम, पूंजी, टेक्नालॉजी, प्रबंधन एवं संचालन की एकता कायम हो सके। जब श्रम करने वाले बौद्धिक कार्य भी करेंगे, तभी वे भविष्य की समाज रचना कैसी होगी, इसका विचार कर सकेंगे तथा कार्यक्रम व मूल्यों की एकता भी स्थापित कर सकेंगे। इस प्रकार शरीर श्रम का मूल्य भी सत्याग्रह एवं वैकल्पिक रचना के कार्यक्रम के माध्यम से लोक-सत्ता, लोक-स्वराज्य का आधार बन सकेगा।

बिभल कुमार

# संकट लोकतंत्र का नहीं, स्वाधीनता में जीने का है

□ बाबूराव चन्दावार

ब्रिटिश पार्लियामेंट के संदर्भ में ही जब संसदीय लोकतंत्र के विषय में सोचा जाता है, तब उसके चार स्तंभ माने जाते हैं। इसलिए ब्रिटिश पार्लियामेंट को ही आदर्श मानकर उसका अस्तित्व जिन चार स्तंभों पर खड़ा किया गया है, उसमें विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा पत्र-पत्रिकाएं आदि मुद्रित प्रसारण के माध्यम (प्रिंट मीडिया), चारों को प्रमुख स्तंभों के रूप में स्वीकार किया गया। प्रथम तीन, जिनमें विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका हैं, उनकी जो भी स्थिति प्रारंभ से लेकर आज तक बनी हुई है, उनके द्वारा कई तरह के विवाद उपस्थित किये गये और वे चर्चित रह चुके हैं। इस समय भी चर्चित हैं। पर लोगों की और लोगों द्वारा, लोगों के लिए ही जिस राजनैतिक व्यवस्था का निर्माण किया जाता है, उसे संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था कहने की परिपाटी बना कर रखी गयी है। अर्थात्, इसमें 'लोक' को ही केंद्र में रखा गया है। फिर भी लोकतंत्र के लिए 'लोक' का वह निर्विवाद अस्तित्व अब तक नहीं बन पाया है, जिससे यथार्थ में लोगों का ही लोकतंत्र कहना संभव हो सके। फिर भी लोकतंत्र के लिए 'जनमत' या 'लोकमत' निर्माण का दायित्व निभाने के लिए जिस कार्यविधि की अपेक्षा की गयी थी और अभी भी अपेक्षा की जाती है, उसके द्वारा कहा जाता है कि प्रसारण के माध्यमों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान बनता है। क्योंकि लोकतंत्र के लिए जिस 'जनमत' या 'लोकमत' की आवश्यकता होती है, उसे अनिवार्य बनाने के जो भी उपाय माने गये हैं, उनमें से ही राजनैतिक दलों का निर्माण करके उनके द्वारा लोगों का या मतदाताओं का 'लोक-शिक्षण' करने की बात ही वास्तव में सोची गयी है और राजनैतिक दल लोगों का लोकतंत्र के

संदर्भ में प्रशिक्षण या 'लोक-शिक्षण' करें, इसकी अपेक्षा की गयी है। पर मतदाताओं द्वारा चुनावों में मात्र मतों को हासिल करने के उद्देश्य से जब राजनैतिक दल सक्रिय हो जाते हैं, तब मतों को हासिल करने के लिए जिन उपायों द्वारा वे मतदाताओं को आकर्षित करते हैं, उसमें आम तौर पर माना गया है कि संविधान सम्मत 'आचार संहिता' का उल्लंघन किया जाता है। इसलिए मतदाताओं को लोकतंत्र के लिए जिस 'लोक शिक्षण' की, प्रशिक्षण की अपेक्षा की जाती है, उसके लिए राजनैतिक दल अपना दायित्व नहीं निभा पाते हैं। क्योंकि मतदाताओं के मतों को हासिल करने के लिए उन्हें जिन उपायों द्वारा राजनैतिक दल रिझाते हैं, उनमें लोकतांत्रिक मूल्यों का वे अवश्य ही हनन करते हैं। इसलिए लोगों का या मतदाताओं का लोकतंत्र के लिए उचित प्रशिक्षण करना पत्र-पत्रिकाओं (प्रिंट मीडिया) तथा प्रसारण के माध्यमों का जिसमें आजकल 'इलेक्ट्रॉनिक मीडिया' का भी समावेश किया गया है, दायित्व माना जाता है।

**लोकतंत्र का अनिवार्य लोकमत :** मुख्य प्रश्न लोकतंत्र के लिए जिस प्रकार का लोकमत आवश्यक तथा अनिवार्य माना जाता है, उसका वास्तविक अर्थ में अस्तित्व बनाने का है। लोकतंत्र के लिए राजनैतिक दलों का अस्तित्व अनिवार्य बना दिया गया है। पर लोकतंत्र के लिए आवश्यक 'लोकमत' का वास्तविक अर्थ में अस्तित्व साकार करने का दायित्व राजनैतिक दलों पर क्यों डाला गया होगा, और किस अर्थ में एवं किस हद तक इसे उचित माना गया होगा, इस प्रश्न का समाधान नहीं किया जाता है। इसे जितना स्पष्ट कर लेना चाहिए उतना नहीं किया गया है। राजनैतिक दलों द्वारा इसे स्पष्ट कर लेना सहज नहीं था। इसलिए वह संभव

नहीं हो पाया है। पर लोकतंत्र के लिए अनिवार्य माना गया वह 'लोकमत' अस्तित्व में किस तरह लाया जा सकता है, इस प्रश्न का समाधान कर लेना जरूरी था और जरूरी है। इस संदर्भ में ही प्रसारण के माध्यमों का (मीडिया) प्रयोजन तथा महत्व माना गया है। इसे तर्कसंगत करने का प्रयास भी किया ही गया है। इसीलिए प्रसारण माध्यमों को संसदीय लोकतंत्र के चौथे स्तंभ के नाते महत्व मिला है। इस चौथे स्तंभ द्वारा संसदीय लोकतंत्र को मजबूती दिलाने का प्रयास यदि किया गया हो तो उसकी वास्तविकता क्या है, इसे भी जान लेना होगा। क्योंकि लोकतंत्र के लिए जिस 'लोकमत' के निर्माण को अनिवार्य माना जाता है क्या वह वास्तव में साकार हो पाया है या नहीं, इसे जाँच लेना जरूरी हो जाता है। पर वास्तव में इस जाँच का प्रयोजन एवं महत्व नहीं माना जा रहा है। क्योंकि लोकतंत्र के लिए अनिवार्य माना गया 'लोकमत' रहे या न रहे तो भी संसदीय लोकतंत्र का अस्तित्व रह पाना ही अनिवार्य माना जाता रहा है। लेकिन वास्तविकता है कि लोकतंत्र के लिए अनिवार्य 'लोकमत' नहीं रहने से संसदीय लोकतंत्र का अस्तित्व भी नहीं रह पायेगा। इस दृष्टि से संसदीय लोकतंत्र में आस्था जतानेवाले सोच नहीं पाते हैं। इसलिए लोकतंत्र के लिए अनिवार्य 'लोकमत' रहे न रहे, तो भी संसदीय लोकतंत्र को अस्तित्व प्रदान करने का आग्रह बचा हुआ है। इस आग्रह द्वारा जो उसका स्वरूप बनता हुआ देखा गया है और बना भी है, वह लोकतंत्र की जड़ों को काटकर रख सकता है इसका आवश्यक ज्ञान कर लेना संभव नहीं हो पा रहा है जिससे संसदीय लोकतंत्र समस्याग्रस्त होता गया है, और यह क्रम टूट नहीं पा रहा है। समस्याओं की जड़ में जो वास्तविकता

है, उसे जाना नहीं जा रहा है, इसलिए उसे समझा भी नहीं जा रहा है। इसलिए लोकतंत्र के लिए अनिवार्य माना जाने वाला 'लोकमत' यदि उपलब्ध नहीं हो पाया तो, जैसा रह पायेगा और रहा भी है, उसे ही लोकतंत्र कह लेना क्या उचित माना जा सकता है? उचित नहीं माना जा सकता है। इसलिए 'लोकमत' की उपलब्धि के अभाव में लोकतंत्र का ढांचागत अस्तित्व बना हुआ है, उसे ही लोगों का लोकतंत्र कहा नहीं जा सकता है।

**सहभागिता की स्वतंत्र लोकशक्ति :** वास्तविक अर्थ में लोगों का अस्तित्व है। लेकिन मात्र लोगों का अस्तित्व रह जाने से ही 'लोकमत' का अस्तित्व भी है ऐसा माना जा रहा है। इसलिए लोग तो हैं पर उनका 'मत' नहीं है। ऐसी ही वास्तविक स्थिति बनी हुई है। बिना 'मत' के लोग हैं। इसलिए जब कहा जाता है कि 'लोग' सब जानते हैं-समझते हैं, तो वास्तव में क्या जानते-समझते हैं प्रश्न उपस्थित होता है। जिसे लोग जानते-समझते हैं उनके द्वारा ही लोकतंत्र के लिए जो अनिवार्य माना गया है वह 'लोकमत' नहीं बन पाता है- बना भी नहीं है। मतदान द्वारा लोगों से 'मत' लिया जाता है, उसे स्वीकार भी किया जाता है। इसलिए लोगों की तथा उनके मतों की खरीद-फरोख्त होती आयी है, और वह चल भी रही है। खरीद-फरोख्त तो वे ही कर सकते हैं जो, खरीद लेने की क्षमता वाले होते हैं। इसलिए जिसे किसी भी प्रलोभन द्वारा खरीद-फरोख्त नहीं किया जा सकता है, उसे ही लोकतंत्र के लिए अनिवार्य स्वतंत्र 'लोकमत' माना गया है, और माना जा सकता है। लेकिन इस तरह का 'लोकमत' अभी अस्तित्व में आया ही नहीं है, जो अपने में एक वास्तविकता है। इसलिए इसके आधार पर कहा जा सकता है कि लोगों का, लोगों द्वारा, लोगों की ही बनायी गयी लोकतांत्रिक व्यवस्था अब तक अस्तित्व में नहीं आ पायी है। इस संदर्भ

सर्वोदय जगत

को ध्यान में लेकर ही लोगों की प्रत्यक्ष सहभागितावाली लोकतांत्रिक व्यवस्था के विषय में अनिवार्यता से सोच लेने की आवश्यकता जेपी को महसूस हुई थी जिसमें से 'तीसरी शक्ति' का संकल्प उनके मन में प्रस्फुटित हो कर ही उभरकर आया था। राजनैतिक गलियारों में 'तीसरी शक्ति' का मतलब राजनैतिक सत्ता पाने के लिए प्रतियोगिता में जो राजनैतिक दल रहते हैं उनके विषय में निकाला जाता है। 'सत्ताधारी' और 'सत्ताकांक्षी' दो पक्ष राजनीति में होते ही हैं। इससे भिन्न जिन्हें माना जाता है, उसे 'तीसरी शक्ति' राजनीति में कहा जाता है। इसलिए राजनैतिक लाभ पाने के इरादे से जो दल तथा उनके पक्ष बने हुए हैं, उसके लिए तीसरा पक्ष यानी 'तीसरी शक्ति' का संबोधन राजनीति में किया जाता है। इसमें लोगों की प्रत्यक्ष सहभागिता का प्रयोजन माना नहीं गया है। इसलिए दलगत राजनीति में 'लोकशक्ति' की कल्पना नहीं की जाती है। क्योंकि राजनैतिक दलों के लिए 'लोकशक्ति' की आवश्यकता या उसकी अनिवार्यता होती ही नहीं है। इसलिए दलगत राजनीति 'लोकशक्ति' से जुड़ी नहीं रह पाती है, वह मात्र 'उपद्रव मूल्य' से ही (न्यूसेन्स वैल्यू) जुड़ी रह जाती है। उपद्रव की क्षमता पाकर ही राजनैतिक सत्ता प्राप्त की भी जाती है, जिसमें से उपद्रव मूल्यों द्वारा 'लोकमत' की खरीद-फरोख्त किया जाना संभव होता भी है। इसलिए दलगत राजनीति में 'लोकशक्ति' की आवश्यकता होती ही नहीं है। इस संदर्भ में ही 'लोकमत' तथा 'लोकशक्ति' दोनों के स्वतंत्र एवं महत्वपूर्ण स्थानों को जानना-समझना जरूरी हो जाता है, जिसे जेपी ने लोगों के प्रत्यक्ष सहभागितावाली लोकतंत्र की (पीपल्स पार्टिसिपेटरी डेमोक्रेसी) कल्पना करके ही उसे स्पष्ट कर दिया है। मेरी दृष्टि में इसे स्पष्ट कर देनेवाले जेपी ही प्रथम पुरुष माने जा सकते हैं। क्योंकि इसके पूर्व इसकी कल्पना किसी ने भी रखी नहीं है। विनोबाजी ने ही

मूलतः 'तीसरी शक्ति' की व्याख्या दी है, जिसमें कहा गया है कि 'अहिंसा विरोधी राज्यशक्ति से भिन्न स्वतंत्र लोकशक्ति।' लेकिन स्वतंत्र लोकशक्ति लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए सहभागितावाली (पार्टिसिपेटरी) है, इसे जेपी ने ही सर्वप्रथम जान लिया था और उसे प्रस्तुत भी किया था। इसलिए 'तीसरी शक्ति' की पूर्ति लोगों की प्रत्यक्ष सहभागिता से हो सकती है, इसे जानना सहज हो भी गया है।

(1987 में मुझे 'इंडिया फाउंडेशन' द्वारा दो महीनों के लिए अमेरिका जाने के लिए आमंत्रित किया गया था। पर वहां मुझे छः महीने रुकना पड़ा था। इस अवधि में अमेरिका के कई राज्यों में गोष्ठियों के आयोजन किए गए थे। आयोजनों में मैंने सर्वोदय तथा संपूर्ण क्रांति विषयों पर व्याख्यान दिए थे, तथा इसके द्वारा अमेरिकी मित्रों से संवाद साधा था। इस संदर्भ में विनोबाजी की 'तीसरी शक्ति' पुस्तक के लिए जेपी ने जो अंग्रेजी प्रस्तावना लिखी है, उसकी जेरॉक्स प्रतियां वितरित की गयी थीं। उन्हें पढ़कर अमेरिकी मित्रों को एक नया प्रकाश मिला। और इसे उन्होंने अपने वक्तव्यों द्वारा स्पष्ट भी किया था।)

**प्रसारण के माध्यम लोकहित में नहीं :** राजनैतिक दलों का प्रयोजन मानकर ही जिस लोकतंत्र की कल्पना की गयी है, उसमें लोगों की प्रत्यक्ष भागीदारी नहीं हो पाने की स्थिति में लोकतांत्रिक व्यवस्था वास्तविकता में प्रवेश नहीं कर पाती है। इसलिए संसदीय लोकतंत्र के जो चार स्तंभ माने गये हैं, वे मात्र औपचारिकता निभानेवाले ही रह जाते हैं। इसलिए चारों स्तंभों को 'लोक' तथा उनकी 'शक्ति' अर्थात् 'लोकशक्ति' का स्पर्श नहीं हो पाता है। पर स्पर्श होने का आभास पैदा करते रहने का एक सिलसिला प्रसारण के माध्यमों द्वारा बनाया गया है, जो लोकतांत्रिक व्यवस्था का भ्रम पैदा करने के लिए एक कारगर साधन बना दिया गया

है। इसका लाभ इस समय शक्तिशाली वर्गों के शोषणमूलक वर्ग स्वार्थ साध लेने के लिए ही लिया जाता रहा है—उपयोग में लाया जा भी रहा है। इसलिए प्रसारण के सभी माध्यम शक्तिशाली वर्गों के ही हैं, और जिन्हें कार्पोरेट शक्ति माना भी जाता है, उन्हीं के नियंत्रण में चलाये जा रहे हैं, और वे ही प्रसारण माध्यमों के मालिक या स्वामी बन कर बैठे हैं, जिन्हें शोषण करनेवाले वर्ग ही माना जा सकता है।

ब्रिटिश शासन को हटाने के लिए स्वाधीनता आंदोलन चल रहा था। उस समय भी इसी प्रकार का आचरण भारत में प्रसारण के माध्यमों ने किया था। इसलिए ब्रिटिश शासन के पक्ष में ही प्रसारण माध्यम रहे भी थे। (टाइम्स ऑफ इंडिया समाचार-पत्र भी इसमें शामिल रहा था) इसे समझ कर ही लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने मराठी में 'केसरी' तथा अंग्रेजी में 'मराठा' पत्रों का प्रकाशन किया था। महात्मा गांधी ने 'यंग इंडिया' (अंग्रेजी) 'हरिजन सेवक' तथा 'हरिजन' (अंग्रेजी-हिंदी) पत्रिकाओं का प्रकाशन किया था। इसलिए प्रसारण के माध्यमों का व्यावसायिक (कमर्शियल) दृष्टिकोण लोगों की स्वाधीनता के पक्ष में कभी भी नहीं रह पाता है, आज भी वह लोगों के पक्ष में नहीं है। इसे जानते हुए, प्रसारण के सभी माध्यम जिसमें इलेक्ट्रॉनिक माध्यम चैनल भी शामिल हैं, लोगों की स्वाधीनता चाहनेवाले नहीं हैं और नहीं रह सकते हैं, इसे समझकर इनके प्रति अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर लेना होगा। क्योंकि किसी भी व्यावसायिक प्रसारण के माध्यमों पर भरोसा नहीं किया जा सकता। अर्थात् वे सभी 'पेडन्यूज' वाले बन गये हैं और व्यावसायिक स्वार्थ साध लेने के लिए ही लोगों की स्वाधीनता पर आक्रमण करते हुए लोक विरोधी भूमिका वे निभाते हैं, यह स्पष्ट हो जाना चाहिए। इसलिए प्रसारण के व्यावसायिक माध्यमों का लोकहित में तथा

लोगों के पक्ष में उपयोग नहीं हो पाना ही सहज हो भी गया है।

लोग स्वाधीनता में जी सकें, इसके लिए राजनैतिक व्यवस्था की जरूरत अवश्य होगी। पर वह लोगों की प्रत्यक्ष साझेदारी की ही होनी भी चाहिए। इस पर दृढ़ हो जाने की जरूरत है। क्योंकि इस दृढ़ता के अभाव में जो राजनैतिक व्यवस्था बनेगी और बनी भी है, वह लोगों की अपनी नहीं होगी, जिसके चलते लोगों को स्वाधीनता में जीना संभव नहीं हो पाएगा। इसलिए संसदीय लोकतंत्र की औपचारिक व्यवस्था द्वारा लोगों की अपनी वास्तविक व्यवस्था बना पाना संभव कदापि नहीं हो पाएगा। इसे ध्यान में लेते हुए, औपचारिक संसदीय लोकतंत्र के लिए वास्तविक लोकतंत्र का विकल्प शीघ्रताशीघ्र खोज लेना

जरूरी हो गया है क्योंकि औपचारिक संसदीय लोकतंत्र द्वारा लोग स्वाधीनता में जी सकें, ऐसे अवसर नहीं बन पाएंगे। पर जो अवसर बने हुए हैं ऐसा कहा जाता है और उनका आभास संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था द्वारा दिया भी जा रहा है वह मात्र भ्रम ही माना जा सकता है। क्योंकि प्रत्यक्ष में लोगों की स्वाधीनता में जीने के लिए वह लाभकारी नहीं हो पाएगा।

इसका तात्पर्य है कि जेपी ने 'संपूर्ण क्रांति' का उद्घोष किया था, उसका महत्त्व समय रहते जान लेना होगा। इसे जाकर ही सही दिशा में कदम उठ नहीं पाए तो संसदीय लोकतंत्र के लिए ही संकट पैदा नहीं होगा, भारत के लोगों की स्वाधीनता के लिए भी संकट पैदा होगा। □

### 'गांधी-कथा' : बापू का जीवन ही उनकी वाणी

महात्मा गांधी के सान्निध्य में रहे श्री नारायण देसाई ने वाराणसी में 'गांधी-कथा' के श्रवण का हम सबको अवसर दिया। कथा का आयोजन 'महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ' के 'गांधी अध्ययनपीठ सभागार' में 21 से 25 फरवरी तक रहा। 'गांधी-कथा' सुनाने के कारणों पर बात करते हुए नारायण भाई ने कहा कि गुजरात में 2002 में हुए दंगे की घटनाओं के प्रायश्चित हेतु उन्होंने यह कथा सुनानी आरम्भ की थी; गुजराती होने के नाते वह हिंसा की इन घटनाओं के मूक दर्शक नहीं बने रहना चाहते थे। उन्हें लगा कि केवल भर्त्सना से काम नहीं चलने वाला है, बल्कि गांधी-विचार को फिर-फिर समक्ष लाने की आवश्यकता है, और बापू का तो जीवन ही उनकी वाणी है, इसलिए वे कथा में उनका जीवन सुनाते हैं और उनकी वाणी जन-जन तक पहुंच जाती है।

नारायण भाई ने स्पष्ट किया कि गांधीजी के लिए 'अभय' दोतरफा प्रक्रिया रही है, वह मानते थे कि समाज में भय की समाप्ति तभी हो सकती है जब कोई किसी से डरे नहीं

और किसी को डराये भी नहीं। कथा के अन्तिम दिन नारायण भाई ने कहा कि भारत विभाजन के दिनों में कोलकाता में भीषण दंगा हुआ था, जिसमें अनगिनत निर्दोष जानें गयीं; उस कत्लेआम में इस्तेमाल अस्त्र-शस्त्र एक ही स्थान से आये थे और आगजनी के लिए मंत्रियों के कोटे का पेट्रोल इस्तेमाल किया गया था। इसके जवाब में नौआखाली में दंगे भड़क गये। लोगों को घेर कर मारा गया। देश एक बड़े संक्रमण-काल से गुजर रहा था; कोई नेता दिल्ली नहीं छोड़ना चाहता था। लेकिन सूचना मिलते ही गांधीजी नौआखाली चले गये। नौआखाली में उनसे एक गुट मिला जिसने उनसे कहा कि बंगाल विरोधी यहां की हिंसा को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत कर रहे हैं। वैसी ही बात आज फिर सुनने को मिल रही है कि गुजरात को बदनाम करने वाले वहां हुए दंगों की बात बढ़ा-चढ़ाकर कर बता रहे हैं।

'गांधी-कथा' का आयोजन 'साझा संस्कृति मंच' के सहयोग से किया गया। वाराणसी में 'गांधी-कथा' का यह प्रथम आयोजन था।

—स. ज. प्रतिनिधि

# सामाजिक संगठन और प्रबंध

□ अनुपम मिश्र

कोई भी समाज शून्य में नहीं रह सकता। उसे अपने को व्यवस्थित ढंग से चलाने के ढांचे विकसित करने ही पड़ते हैं। इसमें भी यदि समाज का मुख्य आधार कृषि और पशुपालन है तो उस खेतिहर समाज को मिट्टी, पानी, गोबर तथा वनों के ठीक उपयोग का एक सशक्त ढांचा ढालना ही पड़ता है। इन्हीं संसाधनों पर खेतिहर, पशुपालक समाज टिका रहता है। इसलिए इन ढांचों में कई तरह के और कई स्तर पर लागू हो सकने वाले नियम-कायदे बनाने पड़ते हैं। फिर इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि इन नियम-कायदों में न सिर्फ सबकी सहमति हो, सब उन्हें अपने ऊपर लागू करने में भी बिना किसी दबाव के सहर्ष स्वेच्छा से आगे आएँ। तब समाज अपनी ठीक गति से, अपनी धूरी पर चलता है, आगे बढ़ता है तथा उत्पादन के साधनों का, प्राकृतिक साधनों का बेहतर उपयोग करते हुए अपना विकास करता है।

समाज को चलाने का यह ढांचा तभी व्यवस्थित हो पाता है जब समाज की नींव से लेकर शिखर तक सब स्तर उसमें शामिल हों। इनमें समय के अनुसार कुछ परिवर्तन जरूर आ सकते हैं, कुछ नीतियां यहां-वहां बदली जा सकती हैं, पर उसकी मूल धारा वर्षों के साझे अनुभव से ही संचालित होती है।

**बुनियादी इकाई :** किसी भी खेतिहर समाज में ऐसे ढांचे की बुनियादी इकाई ग्राम स्तर पर ही बनती है। हमारे यहां यह ग्राम सभा या पंचायत के रूप में रही है। प्राकृतिक संसाधनों के संवर्धन, संरक्षण, सातत्य और समता के आधार पर उनका प्रबंध पंचायतों के जिम्मे रहा है। दुर्भाग्य से गुलामी के दौर में इनमें से अधिकांश ढांचे उपेक्षा और अंग्रेजी राज के नये नियमों के आने से टूटे भी थे। उन ढांचों को समझने के लिए हमें अपने-

अपने क्षेत्रों में पुरानी व्यवस्थाओं के बारे में बातचीत के जरिये फिर से मेहनत करनी चाहिए।

खेतिहार समाज में पानी के प्रबंध का सारा काम ग्राम स्तर पर ही होता रहा है। इसमें तालाब आदि की योजना बनाना, उसके लिए धन और श्रम जुटाना और फिर उसका सतत रख-रखाव करना—इन तीनों स्तरों पर आज जिसे हम 'जन भागीदारी' कहते हैं—उसी का पूरा सहारा लिया जाता था। ग्रामसभा या पंचायत के स्तर पर खड़ा यह बुनियादी ढांचा अंग्रेजी राज के दौर से पूरी तरह नष्ट हो गया था। आजादी के बाद उसे कुछ हद तक वापस लाने का प्रयत्न जरूर हुआ पर मोटे तौर पर वह सरकारी पंचायतों के ढांचे में बदल गया था। आज फिर से शासन ने पंचायतों की भूमिका का महत्व समझा है। इंटर कोआपेरेशन अपनी अन्य सहयोगी संस्थाओं के साथ इन ढांचों के माध्यम से ग्राम स्तर पर ग्राम विकास की नयी जिम्मेदारी के अवसर बढ़ाने में प्रयासरत हैं।

समाज के शोषण की प्रवृत्ति रहती है तो उस पर नियंत्रण करने की सजगता भी रहती है। यह व्यवस्था न हो तो समाज का बलवान अंग कमजोर पक्ष को दबाकर ही रखेगा। पानी और भूमि के प्रबंध में चकों की व्यवस्था इसी सजगता और समता आधारित न्याय के प्रति सम्मान के कारण बनी थी। दुर्भाग्य से आजादी के बाद हमारी अपनी चुनी हुई लोकप्रिय सरकारों ने, किसान नेताओं ने, प्रशासकों ने और नीति निर्धारकों ने इसे ठीक से समझा नहीं और चकबंदी का व्यापक अभियान चलाकर इसे तोड़ दिया।

एक ही किसान के दो-तीन जगह बँटे खेत जल के उचित प्रबंध के कारण रखे जाते थे। गांव में सार्वजनिक तालाब से सिंचित कमांड क्षेत्र में लगभग पूरे गांव के हर परिवार के छोटे-छोटे खेत होते थे। इन्हें राजस्थान

में 'बिगोड़ी' कहा जाता था। यह नामकरण बीघा के नाम से आया था। इसमें बड़े किसानों का भी छोटा-सा ही टुकड़ा रखा जाता था। फिर इसके आगे के क्षेत्र में अपेक्षाकृत थोड़े बड़े खेत होते थे। इनकी सिंचाई अपने निजी कुओं से होती थी। फिर अंत में खेतों में से सबसे बड़े टुकड़े होते थे और ये असिंचित होते थे।

**अन्न सुरक्षा :** बिगोड़ी यानी सभी के कुछ बीघा बराबर छोटे-छोटे खेत सामाजिक न्याय के साथ-साथ अन्न-सुरक्षा की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण थे। तालाब की सिंचाई से हर एक परिवार को अपने छोटे खेतों से कुछ-न-कुछ अनाज पक्के तौर पर मिल जाता था। अकाल की स्थिति में भी इनमें कुछ फसल तो हो ही जाती थी।

तालाब से सिंचित खेतों की सिंचाई के लिए भी हमारे ग्राम समाज ने पुख्ता प्रबंध दिये थे। दक्षिण भारत में एरी नामक तालाबों से किस खेत को कब और कितना पानी देना है, इसकी व्यवस्था 'नीरघंटी' नामक पद के पास सुरक्षित रखी जाती थी। यह पद गांव के भूमिहीन परिवार के सदस्य को सर्वसम्मति से दिया जाता था। उसका निर्णय अंतिम होता था। नीरघंटी बड़े-से-बड़े किसान के क्षेत्र में कितना पानी दिया जाना है—इसका फैसला करता था।

इन सेवाओं के बदले उसे सभी किसानों से फसल का एक निश्चित भाग वेतन की तरह अदा किया जाता था। लेकिन चकबंदी के कारण दो-तीन जगह बँटी यह जमीन, एक जगह कर दी गयी और एक बार फिर ग्राम समाज में बलशाली के पास सबसे अच्छी जमीन आ गयी। कमजोर और छोटे किसान चकबंदी में सिंचित भूमि से बाहर फेंक दिए गये। नीरघंटी आदि का भी व्यवस्थित ढांचा पूरी तरह टूट गया।

**कुंडई :** समतामूलक व्यवस्था : कुंडई के संदर्भ में भी देखें तो निजी और सार्वजनिक

स्वामित्व के बीच परम्परागत समाज ने अच्छी समतामूलक व्यवस्था बनायी थी। कुई हरेक परिवार की निजी सम्पत्ति मानी जाती है पर वह जिस जगह बनती है, वह ग्राम समाज की सार्वजनिक भूमि होती है। उस क्षेत्र में जिप्सम की पट्टी के कारण जो नमी संचित होती है वह सार्वजनिक होती है। इसलिए यदि किसी परिवार को एक नयी कुई और खोदनी हो तो उसे इस काम के लिए बाकायदा ग्राम सभा से इजाजत लेनी पड़ती थी।

इस व्यवस्था की तुलना आज के ट्यूबवेल से करके देखें। अब जब जो चाहे हर कहीं ट्यूबवेल लगा लेता है—भू-जल को सार्वजनिक नहीं माना जाता, इसलिए इस अव्यवस्था, अराजकता के कारण आज देश के अधिकांश जिलों में भू-जल चिन्ताजनक स्थिति में नीचे उतर चुका है।

**पानी पंचायत :** लेकिन जैसा कि हमने इस अध्याय के प्रारम्भ में देखा है, कोई भी समाज शून्य में नहीं जी सकता। कोई न कोई व्यवस्था तो उसे संचालित करने के लिए बनानी ही होती है। इन नये दौर में भी महाराष्ट्र के पुणे जिले में 'ग्राम गौरव प्रतिष्ठान' नामक संस्था ने तालाब से सिंचित जमीन में 'पानी पंचायत' नामक एक नयी व्यवस्था प्रयोग के तौर पर लागू की है। इसमें पानी केवल भूमिवाण को ही नहीं, भूमिहीन को भी दिया है। इस तरह भूमिहीन अपने हिस्से के पानी को अब भूमिवाणों में बाँटकर उसकी एवज में फसल का एक निश्चित भाग प्राप्त कर सकता है।

**अरवरी संसद :** राजस्थान के अलवर जिले में तरुण भारत संघ द्वारा बनाए गए सैकड़ों बांधों और तालाबों से जब एक सूखी पड़ी नदी जीवित हो उठी तो उसके किनारे के गाँवों में नये आए इस पानी के उचित और न्यायपूर्ण बँटवारे का प्रश्न भी उठा। साधनसम्पन्न किसान सीधे नदी में से पम्प लगाकर सिंचाई का पानी खेतों तक ले जाने लगे थे। ऐसी अराजकता में पुनर्जीवित नदी

## श्री महादेव विद्रोही सर्व सेवा संघ (अ. भा. स. मं.) के अध्यक्ष निर्वाचित

सर्व सेवा संघ ( अखिल भारत सर्वोदय मंडल ) का 82वां अधिवेशन 1 एवं 2 मार्च, 2014 को महात्मा गांधी के सेवाग्राम आश्रम ( वर्धा, महाराष्ट्र ) में सम्पन्न हुआ।

अधिवेशन के विशिष्ट अतिथि डॉ. अभय बंग ने 'देश एवं दुनिया की आज की परिस्थिति और हमारा दायित्व' तथा श्री विजय जावंधिया ने 'किसानों की समस्या और सर्वोदय आंदोलन' विषय पर अपने विचारोत्तेजक उद्बोधन से उपस्थित सभी लोकसेवकों में नई ऊर्जा की लहर पैदा की।

अधिवेशन के दूसरे दिन श्री महादेव विद्रोही को सर्व सेवा संघ का 22वां अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। श्री विद्रोही ने 1969 में तरुण शांति सेना के एक सैनिक के रूप में सर्वोदय आंदोलन में प्रवेश किया था। तब से लेकर आज तक आप सामाजिक सरोकारों के विभिन्न मोर्चों पर सक्रिय रहे हैं। 1974-75 के छात्र आंदोलन एवं आपात्काल के दौरान आपको चार बार गिरफ्तार किया गया, जिसके कारण लम्बे समय तक जेल में रहना पड़ा। इससे पूर्व आप सर्व सेवा संघ के महामंत्री एवं प्रबंधक न्यासी की

को फिर से सूख जाने में कितने दिन लगते? अब अरवरी नदी के दोनों किनारों पर बसे गाँवों ने आपस में बैठ कर इसके पानी के उपयोग की व्यवस्था के बारे में बातचीत की।

हर गाँव से चुने गये दो सदस्यों को लेकर 'अरवरी संसद' नामक एक नया संगठन बनाया। यह संसद वर्ष में चार बार अपनी बैठक करती है और नदी के पानी की मात्रा, उसके उचित उपयोग, बँटवारे और उससे कौन-सी फसल लेना है, कौन-सी नहीं लेना है—आदि प्रश्नों के निर्णय सामूहिक तौर पर लेती है।

हमें अपने क्षेत्रों में सहयोग और समता

जिम्मेवारियों को निभा चुके हैं। 2011 में आपको जयप्रकाश नारायण पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

श्री विद्रोही के अध्यक्ष चुने जाने पर देशभर के विभिन्न सामाजिक संगठनों ने उन्हें अपनी शुभकामनाएं तथा बधाई देते हुए कहा है कि अध्यक्ष चुने जाने से सर्वोदय आंदोलन में एक नये युग की शुरुआत हुई है। आशा है, उनके नेतृत्व में सर्व सेवा संघ सभी परिवर्तनकारी शक्तियों को जोड़कर एक नया और सशक्त आंदोलन का सूत्रपात करेगा।

अधिवेशन का समापन न्यायमूर्ति श्री चन्द्रशेखर धर्माधिकारी जी के आशीर्वचनों से हुआ।

अधिवेशन के बाद पत्रकारों से बात करते हुए श्री महादेव विद्रोही ने कहा है कि सर्व सेवा संघ आर्थिक असमानता के विरुद्ध अपने अभियान को तेज करेगा। इस अभियान के प्रथम चरण में श्री मुकेश अंबानी के महल 'ऐटीलिया' के विरुद्ध सत्याग्रह करेगा। भूदान किसानों को संगठित कर उनकी समस्याओं का निदान एवं गोवध बंदी के लिए आंदोलन को गति प्रदान करना सर्व सेवा संघ की प्राथमिकता होगी।—टी.आर.एन.प्रभु, मंत्री

की भावना बढ़ाने और शोषण की प्रवृत्ति को रोकने वाली ऐसी सभी पुरानी परम्परागत पद्धतियों के बारे में और अधिक जानकारी एकत्र करनी चाहिए। राजस्थान के वनवासी समाज में अड़सी-पड़सी प्रथा और लास खेलने की परम्परा बहुत व्यापक पैमाने पर रही है। यह अभी भी पूरी नष्ट नहीं हुई है। हमारे अपने कामों में इनका फिर से उपयोग बढ़ाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इधर शासन ने भी फिर से पंचायत के स्तर पर काम प्रारम्भ किया है। ऐसे नये वातावरण में हम सबको फिर से अपने ग्राम आधारित संगठनों को मजबूत करना चाहिए। □



# गांधी और भगत सिंह : तथ्य बोलते हैं

□ श्रीभगवान सिंह

आधुनिक भारत की महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक शिखरियों में भगत सिंह उसी वक्त शुमार हो गये जब 23 मार्च, 1931 को देश की आजादी के लिए उन्होंने हँसते-हँसते फाँसी के फन्दे को चूम लिया। तब से उनके आत्म बलिदान एवं विचारों के महत्त्व को लेकर लगातार लिखा जाता रहा है, हर वर्ष 23 मार्च को देश के विभिन्न नगरों में विचार-गोष्ठियों एवं स्मृति-सभाओं का आयोजन होता रहा है। यह निश्चय ही एक कृतज्ञ राष्ट्र का अपने एक महान शहीद के प्रति कृतज्ञता का प्रमाण है। उनकी जन्मशताब्दी के अवसर पर भी भगत सिंह की शहादत एवं विचारों को लेकर काफी कुछ लिखा गया जिसे देख कर प्रसन्नता होती है कि हमारे बुद्धिजीवी वर्ग ने भगत सिंह की कुर्बानी को विस्मृत नहीं किया है। इस क्रम में भगत सिंह के विचारों के महत्त्व को काफी उजागर किया गया है। बहुतों ने उन्हें 'शहीदेआजम' की संज्ञा से विभूषित किया है, दूसरी तरफ उन्हें मार्क्स एवं गांधी के समतुल्य व्यक्ति के रूप में मूल्यांकित करने के प्रयास भी हुए हैं।

चौबीस वर्ष की उम्र में पहुँचा युवक जहाँ आम तौर पर यौवन की नैसर्गिक माँग पर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर स्त्री-सहवास एवं घर-बसाने की इच्छा रखता है, वहाँ भगत सिंह जैसे युवक ने इस उम्र में पहुँच कर देश की आजादी के लिए फाँसी के फन्दे को अपनी नियति बना लिया। इसके लिए वे निस्संदेह हम सब की दृष्टि में आदर एवं अभिनंदन के पात्र हैं। किन्तु ऐसा करने में भगत सिंह न अकेले थे, न पहले। उनके पहले देश की आजादी के लिए सोलह वर्षीय किशोर खुदीराम बोस, रामप्रसाद बिस्मिल, आशफाक उल्ला खान, रौशन सिंह, राजेन्द्र लाहिड़ी जैसे युवक फाँसी पर लटकाये जा

चुके थे। यही नहीं, 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी', जिसके एक सदस्य भगत सिंह भी थे, के 'मास्टर माइन्ड' माने जानेवाले चंद्रशेखर आजाद भी उनकी फाँसी के पूर्व ही इलाहाबाद के एक पार्क में पुलिस के साथ मुठभेड़ में मारे जा चुके थे। देश के लिए शहीद होनेवाले इन सभी युवकों का जीवन विवाह एवं रोमांस से अछूता रहा। 23 मार्च, 1931 को भी लाहौर जेल में जब भगत सिंह को फाँसी दी गई, तब उनके साथ फाँसी पर लटकनेवाले राजगुरु एवं सुखदेव जैसे दो और क्रांतिकारी युवक भी थे, यह हमें नहीं भूलना चाहिए। वस्तुतः देश की आजादी के लिए प्राणोत्सर्ग करनेवाले ये सभी शहीद हमारे लिए समान रूप से अभिनंदनीय हैं।

दूसरी बात यह कि भगत सिंह ने क्रांतिकारी साहित्य को पढ़ने एवं उसका प्रचार करने में जितना भी समय लगाया हो, किन्तु उनकी राष्ट्रीय प्रसिद्धि दो कार्यों के कारण ही हुई—पहला कार्य था, चंद्रशेखर आजाद एवं राजगुरु के साथ 17 दिसम्बर, 1928 को लाहौर में पुलिस अफसर सांडर्स ही हत्या करना और दूसरा कार्य था 8 अप्रैल, 1929 को राष्ट्रीय ऐसेम्बली में बटुकेश्वर दत्त के साथ बम फेंकना। दूसरे कार्य के कारण वे गिरफ्तार हुए और पहले कार्य के कारण वे मृत्युदण्ड के पात्र बने। किन्तु ध्यान में रखने की बात यह है ये दोनों ही कार्य भगत सिंह के व्यक्तिगत निर्णयों की परिणति नहीं थे, हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिक आर्मी के निर्णय थे। "इस आर्मी की स्थापना" जैसा कि इतिहासविद विपनचन्द्र ने अपने एक लेख में बताया है, 9-10 सितम्बर, 1928 में विजय सिन्हा, शिव वर्मा, भगवतीचरण वोहरा, भगत सिंह, सुखदेव आदि के प्रयासों से चंद्रशेखर आजाद

के नेतृत्व में दिल्ली में हुई। ये सभी ऊँचे दर्जे के बौद्धिक थे। चंद्रशेखर आजाद यद्यपि अंग्रेजी कम जानते थे, फिर भी जब कोई बात उन्हें अच्छी तरह समझा दी जाती तभी वे उसे स्वीकार करते थे। 'बम का दर्शन' का क्रांतिकारी वक्तव्य भगवतीचरण वोहरा द्वारा आजाद के अनुरोध पर उनके साथ पूरी बहस करने के बाद ही लिखा गया था।" (इंडिया स्ट्रगल फॉर इन्डेपेंडेस, पृ. 255)

उपरोक्त तथ्यों के आलोक में स्पष्ट है कि भगत सिंह हि. सो. रि. आ. के महत्त्वपूर्ण सदस्यों में एक थे और सांडर्स हत्या से लेकर ऐसेम्बली में बम फेंकने जैसे कार्यों में उनकी भागीदारी संगठन के नीतिगत फैसले के तहत थी। गिरफ्तारी के बाद उन्होंने अदालत में भी जो बयान दिया कि 'यह बम बहरे कानों को सुनाने के लिए फेंका गया' संगठन द्वारा ही निर्देशित था।

भगत सिंह के विचारों को प्रकाश में लाने के लिए सर्वश्री जगमोहन एवं चमनलाल द्वारा 'भगत सिंह और उनके साथियों के दस्तावेज' नाम से जो पुस्तक बहुत परिश्रम से तैयार की गई है, उसमें कुछ लेख ही भगत सिंह के नाम से हैं, कुछ छद्म नाम से लेख हैं और कुछ महत्त्वपूर्ण लेख हि. सो. रि. आ. के सदस्यों द्वारा सामूहिक रूप से विचार-विमर्श के उपरान्त लिखे गये हैं। दूसरी बात कि भगत सिंह के लेखों में जाति, धर्म आदि के विभेदों से परे, शोषण विहीन समतामूलक समाज के विचार व्यक्त हुए हैं। वस्तुतः रूसी क्रांति की सफलता ने विश्व स्तर पर समाजवादी सिद्धान्तों के प्रति बौद्धिकों को आकृष्ट कर रखा था। जार्ज बर्नाड शा, रोमां रोला, रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे विश्व प्रसिद्ध साहित्यकार रूसी क्रांति और वहाँ की समाजवादी उपलब्धियों से अभिभूत थे। लोकमान्य तिलक,

लाला लाजपत राय भी जिन्हें आज के सेक्यूलरिष्ट 'हिन्दूवादी' सिद्ध करते हैं, रूसी क्रांति के प्रशंसक थे और ब्रिटिश सरकार की निगाह में वे 'बोलशेविक एजेन्ट' समझे जाते थे। ऐसे परिवेश में भगत सिंह एवं उनके युवा साथियों का रूसी क्रांति एवं उनके नायक लेनिन के प्रति आकृष्ट होना, उनसे प्रभावित होना बहुत स्वाभाविक था। भगत सिंह और उनके साथी हिन्दुस्तान में जिस तरह की क्रांति और समाज-निर्माण का सपना देख रहे थे, जो उनके लेखों से पता चलता है, वह पूरी तरह रूसी क्रांति एवं समाजवाद के मॉडल का था, लेकिन उनके विचार मार्क्सवाद या गांधीवाद की तरह समग्र जीवन-दर्शन का रूप नहीं ले पाये थे। भगत सिंह के विचारों में राष्ट्रभाषा का सवाल, स्त्री-समस्या का सवाल, साहित्य-संस्कृति-कला का सवाल, आध्यात्मिक विकास, मनुष्य एवं मनुष्येतर के संबंध का सवाल जैसे कितने ही मुद्दे अनुपस्थित हैं और इसे उनका दोष भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि चौबीस वर्ष की उम्र तक वे जितना सोच सके थे, वही काफी था। विदित है कि गांधी ने अपने चिंतन एवं कर्म में इन सारे विषयों का समावेश किया था।

विचारक के रूप में भगत सिंह के महत्त्व को उजागर करने के लिए उनके लिखे निबंध 'मैं नास्तिक क्यों हूँ' को बार-बार आज भी प्रकाशित किया जाता है। ध्यान रहे यह लेख भगत सिंह ने जेल में रहते अक्टूबर, 1930 में लिखा था जब वे 23 वर्ष के थे।

बहुतों ने भगत सिंह के महत्त्व को उनके लेख 'अछूत समस्या' के आधार पर भी रेखांकित किया है।

जहां तक गांधी के व्यक्तित्व के साथ भगत सिंह की तुलना का प्रश्न है, तो हमें यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि गांधी ने भले ही कोई नया विचार न दिया हो, जैसा कि वे स्वयं भी कहा करते थे,

किन्तु उन्होंने कार्य ऐसे जरूर किये जो मानव इतिहास में नये थे और इस दृष्टि से वे अनेक कार्यों में पहले और अकेले थे। दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद के खिलाफ खड़े होनेवाले वे प्रथम व्यक्ति थे, तो भारत में 1917 में चम्पारण में किसानों पर हानेवाले जुल्म के खिलाफ सरकारी आदेश की अवज्ञा कर खुद को जेल जाने के लिए प्रस्तुत करनेवाले वे प्रथम भारतीय नेता थे। असहयोग के रूप में पहली बार पूरे देश में राष्ट्रीय आंदोलन खड़ा करने वाले प्रथम नेता गांधी ही थे। और अन्त में साम्प्रदायिक सौहार्द के लिए गोलियां खाने में भी गांधी अकेले थे।

वस्तुतः भगत सिंह हों या गांधी किसी का भी मूल्यांकन अंधश्रद्धावश नहीं, तथ्यों के आलोक में होना चाहिए। एक के कद को बढ़ाने के लिए दूसरे के कद का छोटा कर देना मूल्यांकन का सही तरीका नहीं है। यह भी विचारणीय है कि भगत सिंह के महत्त्व को बढ़ाने के लिए क्या दूसरे नेताओं, विशेषकर गांधी को अन्यथा सिद्ध करना वांछनीय है?

गालिब का मशहूर शेर है "जिक्र उस परीवश का और फिर बयां अपना, बन गया रकीब आखिर जो था राजदां अपना।" बहुत कुछ ऐसी ही सूरत भगत सिंह के मूल्यांकन— महिमामंडन को लेकर बना दी गई है। भगत सिंह के बहाने उनके भक्त अपने मन की बातें इतना अधिक परोसने लगे हैं जिससे गालिब के इस शेर में इंगित सत्य का अहसास होने लगता है। भगत सिंह को ऊँचा उठाने के क्रम में वे अन्य के कद को इतना छोटा करने लगते हैं जो हर एक समझदार एवं जानकार व्यक्ति को नागवार गुजरने लगता है। गांधी के साथ उनके मतभेदों को उछाल कर वे यहीं सिद्ध करते हैं कि गांधी का मुख्य काम ही था भगत सिंह आदि का विरोध करना और इसलिए यह व्यक्ति भगत सिंह

आदि की दृष्टि में बहुत काम का नहीं था। इन आरोपों के पीछे सत्य क्या है, इसे जानकर ही हम दोनों के संबंध में सही राय बना सकते हैं।

सबसे पहले तो हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गांधी का सिर्फ भगत सिंह से मतभेद नहीं था, मतभेद था तो उन सभी क्रांतिकारियों से जो देश को आजाद कराने के लिए हिंसा एवं आतंक की कार्रवाइयों में विश्वास करते थे एवं उसे अंजाम भी देते थे। यह एक दिलचस्प तथ्य है कि 1920-30 के बीच के जो भी क्रांतिकारी युवक थे, वे सभी मुख्यतः गांधी के असहयोग आंदोलन (1920-22) से ही साम्राज्यवाद विरोध का पाठ पढ़कर क्रांतिकारी बने थे। चन्द्रशेखर आजाद, भगत सिंह आदि उस समय चौदह, पन्द्रह वर्ष के किशोर थे। ध्यातव्य है कि 1922 में असहयोग आंदोलन को स्थगित कर गांधी ने अपने को रचनात्मक कार्यक्रम में लगा दिया, तो उस आंदोलन में शामिल हुए इन तरुणों को लगने लगा कि देश की आजादी सिर्फ अहिंसा के रास्ते नहीं प्राप्त हो सकती और उनका झुकाव हिंसात्मक आतंकवादी कार्यों की ओर हो चला। उद्देश्य को साधने के लिए राम प्रसाद बिस्मिल, शचीन्द्रनाथ सान्याल आदि ने अक्टूबर, 1924 में हिन्दुस्तान 'रिपब्लिकन संघ' की स्थापना की और जब 1925 में काकोरी ट्रेन डकैती केस में रामप्रसाद बिस्मिल, राजेन्द्र लाहिड़ी, आशफाक उल्ला की फाँसी हो जाने के बाद संगठन कमजोर हो गया तो 1928 में हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिक आर्मी नाम से चन्द्रशेखर आजाद, भगत सिंह आदि ने इसकी स्थापना की। इसके संबंध में पहले जिक्र किया जा चुका है। यहां उल्लेख का मतलब यह देखना है कि 1922 के बाद भारत की राजनीति में इन युवा क्रांतिकारी का एक दल अपने ढंग से देश की आजादी

की लड़ाई लड़ने और चूँकि इनका ढंग हिंसा का था, इसलिए अहिंसा को अपने जीवन दर्शन का अभिन्न अंग मानने वाले गांधी ने इसे कभी पसंद नहीं किया। गांधी हमेशा कहते रहे कि वे अहिंसा के सवाल को स्वतंत्रता से ज्यादा महत्वपूर्ण मानते हैं।

वास्तव में गांधी का इन क्रांतिकारी युवकों से कोई व्यक्तिगत मनोमालिन्य नहीं था। वे इनकी देश भक्ति की भावना की प्रशंसा और सम्मान करते थे, किन्तु अहिंसा में अटूट आस्था के कारण वे इनकी दूसरों की जान लेनेवाली गतिविधियों का विरोध करते थे। ध्यान रहे इसी अहिंसा के जरिये गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद के खिलाफ संघर्ष की एक नयी सभ्यता को जन्म दिया था और जब 1917 में रूस में रक्त रंजित क्रांति का इतिहास रचा जा रहा था, तब ठीक उसी वर्ष गांधी चम्पारण में अहिंसा के जरिये अन्याय प्रतिरोध की एक नयी सभ्यता को जन्म दे रहे थे। विदित है कि 1937-38 में कांग्रेस के अध्यक्ष रहे सुभाषचन्द्र बोस से गांधी के मतभेद का कारण हिंसा बनाम अहिंसा का ही सवाल था। सुभाषचन्द्र सरकार के विरुद्ध कांग्रेस के नेतृत्व में सशस्त्र संघर्ष चलाना चाहते थे जिससे गांधी कभी सहमत नहीं हुए और अन्ततः सुभाष बाबू ने कांग्रेस छोड़ कर केवल नई पार्टी ही नहीं बनाई, बल्कि सशस्त्र संघर्ष को मूर्त रूप देने के लिए जर्मनी और फिर जापान पहुँच गये।

तो गांधी का अपना यह जीवन दर्शन था और इसलिए उन्होंने हिंसा एवं आतंक के मार्ग पर चलने वाले क्रांतिकारियों की देश भक्ति का सम्मान करते हुए भी, उनके साधनों का समर्थन नहीं किया। आज की तारीख में जब हम हिंसा बनाम अहिंसा के प्रश्न पर विचार करते हैं, तो गांधी-मार्ग ही सही सिद्ध होता है। भगत सिंह आदि रूसी क्रांति और रूसी समाजवाद, लेनिनवाद के मॉडल पर भारत में क्रांति करना चाहते थे, लेकिन वह

सब आज इतिहास की चीजें बन चुकी हैं, पूँजीवादी उपभोक्तावाद के समक्ष रूसी समाजवाद ने दम तोड़ दिया और चीनी समाजवाद ने पूँजीवाद को अपने अन्दर बसा लिया। विश्व पैमाने पर गांधी के अहिंसा-अपरिग्रह सिद्धान्तों के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। अतएवं क्रांतिकारियों की हिंसक गतिविधियों का, उनके बम के दर्शन का गांधी द्वारा विरोध किया जाना क्या सही काम नहीं था?

प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि ये क्रांतिकारी भी अपने आखिरी दिनों में यह महसूस करने लगे थे कि उन्होंने हिंसा का मार्ग अपना कर सही काम नहीं किया। इसके प्रमाणस्वरूप जवहरलाल नेहरू की 'आत्मकथा' का वह प्रसंग दृष्टव्य है जब अपनी मौत से चंद दिनों पूर्व ही चन्द्रशेखर आजाद नेहरूजी से उनके इलाहाबाद स्थित आवास पर मिले थे और बात-चीत में यह स्वीकार किया था कि "वे और उनके साथी अब इस बात के कायल हो चुके हैं कि आतंकवादी तरीके बेकार हैं और इससे कुछ भला होनेवाला नहीं है।... आजाद से यह जानकर मैं बहुत खुश हुआ कि आतंकवाद में विश्वास मर रहा था।" विपनचन्द्रा ने भी पूर्वोक्त लेख में इस बात का जिक्र किया है कि 2 फरवरी, 1931 को भगत सिंह ने साफ तौर पर कहा कि "मैं आतंकवादी नहीं हूँ सिवा क्रांतिकारी जीवन के आरम्भ में और अब मुझे पूरा विश्वास हो चुका है कि हमलोग उन तरीकों से कुछ भी हासिल नहीं कर सकते।" (इंडिया स्ट्रगल फॉर फ्रीडम, पृष्ठ 255) इन क्रांतिकारियों की इन आत्म स्वीकृतियों के बावजूद गांधी को इनके साधनों का विरोध करने के लिए लांछित करने के पीछे तथ्यों का कितना बल है, इसे सहज ही देखा-समझा जा सकता है।

भगत सिंह को लेकर गांधी पर जो सबसे बड़ा आरोप रहा है वह यह कि उन्होंने भगत सिंह एवं उनके दो साथियों को फाँसी की सजा से बचाने के लिए अपने प्रभाव का

जरा भी इस्तेमाल नहीं किया। 23 मार्च, 1931 को जब उन्हें फाँसी दी गई, उसके कुछ ही दिनों पूर्व यानी 5 मार्च को ही गांधी और वायसराय इर्विन के बीच वह प्रसिद्ध समझौता सम्पन्न हुआ था जिसके अनुसार 1930 में सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान गिरफ्तार किये गये लाखों सत्याग्रहियों को जेल से छोड़ा गया था। अतएवं तब से लेकर अब तक गांधी पर भगत सिंह के कातिल होने का आरोप भगत सिंह प्रेमी लगाते रहे हैं। लेकिन सत्य इसके विपरीत है। गांधी ने काफी प्रयास किये थे कि इनके मृत्युदण्ड को किसी और सजा में रूपान्तरित कर दिया जाए। समझौते के दौरान भी गांधी बहुत कठिनाई से वायसराय से इस मसले पर पुनः विचार करने का अनुरोध कर सके थे, किन्तु जैसा कि नेहरू ने 'आत्म कथा' में लिखा है, सरकार ने उनके अनुरोध को अस्वीकृत कर दिया।

इसके बाद भी गांधी चुप नहीं बैठे रहे। 24 मार्च को सुबह में फाँसी दी जानी थी, सो गांधी उस समय दिल्ली में ही थे, वायसराय को 23 मार्च को पत्र लिख कर पुनः इस सवाल पर विचार करने का अनुरोध किया। उस पत्र के कुछ अंश देखने लायक हैं— "प्रिय मित्र, आपको यह पत्र लिखना आपके प्रति क्रूरता करने जैसा लगता है, पर शांति के लिए अन्तिम अपील करना आवश्यक है। यद्यपि आपने मुझे साफ-साफ बता दिया था कि भगत सिंह और अन्य दो लोगों की मौत की सजा में कोई रियायत किये जाने की आशा नहीं है, फिर भी आपने मेरे शनिवार के निवेदन पर विचार करने को कहा था।... यदि इस पर पुनः विचार करने की गुँजाइस हो, तो मैं आपका ध्यान निम्न बातों की ओर दिलाना चाहता हूँ। जनमत, वह सही या गलत, सजा में रियायत चाहता है। जब कोई सिद्धान्त दाँव पर न हो तो लोकमत का मान करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। प्रस्तुत मामले में

स्थिति ऐसी है कि यदि सजा हल्की की जाती है, तो बहुत संभव है कि आन्तरिक शान्ति की स्थापना में सहायता मिले। यदि मौत की सजा दी गई तो निस्संदेह शान्ति खतरे में पड़ जायेगी। मैं आपको यह सूचित कर सकता हूँ कि क्रांतिकारी दल ने मुझे यह आश्वासन दिया है कि यदि इन लोगों की जान बख्श दी जाये तो यह दल अपनी कार्यवाहियां बंद कर देगा। यह देखते हुए मेरी राय में मौत की सजा को क्रांतिकारियों द्वारा होनेवाली हत्याएं जब तक बंद रहती हैं, तब तक तो मुल्लवी कर देना एक लाजमी फर्ज बन जाता है।”

पत्र और लम्बा है, स्थानाभाव के कारण यहां इतना ही अंश दे पाना संभव है। फिर भी जो अंश है, उससे साफ है कि गांधी अन्त-अन्त तक सच्चे मन से फाँसी की सजा को बदलवाने के लिए प्रयत्नशील थे। लेकिन उनकी अपील का कोई असर नहीं हुआ, उल्टे फाँसी के तय समय में ग्यारह घंटे की कमी करते हुए 23 मार्च की शाम सात बजे ही भगत सिंह, राजगुरु, सुखदेव को फाँसी दे दी गई। उन्हें फाँसी दिये जाने के बाद गांधी ने जो वक्तव्य जारी किया, वह भी इन क्रांतिकारियों के संबंध में उनकी भावनाओं को समझने में काफी महत्त्वपूर्ण है “भगत सिंह और उनके साथी फाँसी पाकर शहीद बन गये हैं। ऐसा लगता है मानो उनकी मृत्यु से हजारों लोगों की निजी हानि हुई है। इन नवयुवक देशभक्तों की याद में प्रशंसा के जो शब्द कहे जा सकते हैं, मैं उनके साथ हूँ।...सरकार के बारे में मुझे ऐसा लगे बिना नहीं रहता कि उसने क्रांतिकारी पक्ष को अपने पक्ष में करने का सुनहरा अवसर गँवा दिया है। समझौते को दृष्टि में रख कर और कुछ नहीं तो फाँसी की सजा को अनिश्चित काल तक अमल में न लाना उसका फर्ज था। सरकार ने अपने काम से समझौते को बड़ा धक्का पहुँचाया है और एक बार फिर

लोकमत को टुकराने और अपने अपरिमित पशु-बल के प्रदर्शन की शक्ति को साबित किया है।”

उपरोक्त तथ्यों के आलोक में दिन के उजाले की तरह साफ है कि भगत सिंह आदि की सजा में कमी करने के संबंध में गांधी की वायसराय से बातें हुई थीं और वायसराय ने उस पर विचार करने का आश्वासन भी दिया था। गांधी अन्त-अन्त तक वायसराय से मिल कर इस मुद्दे पर बात करने को व्यग्र थे जो वायसराय को मान्य नहीं हुआ। दूसरी बात जो अत्यन्त महत्त्व की है यह कि चाहे चम्पारण-सत्याग्रह का मामला हो या असहयोग आंदोलन का, गांधी पर जब मुकदमें चलाये गये तो उन्होंने हमेशा अपने लिए कठोर से कठोर दण्ड की मांग की थी। अपने इस स्वभाव के विरुद्ध जाकर वे वायसराय से इन क्रांतिकारियों की सजा कम करने की प्रार्थना कर रहे थे, तो इसे इन क्रांतिकारियों के प्रति उनकी गहरी सहृदयता, संवेदनशीलता का ही प्रमाण समझा जाना चाहिए। फाँसी दिये जाने के बाद उनके द्वारा दिये वक्तव्य से भी स्पष्ट है कि वे सरकार के पशु बल प्रदर्शन से कितने मर्माहत थे।

इसके बावजूद यह प्रलाप करना कि गांधी चाहते, तो फाँसी की सजा से उन्हें बचा ही लेते, उस समय के शासन के दमनकारी चरित्र के प्रति अज्ञान प्रकट करना ही कहा जायेगा। अगर अंग्रेज गांधी की हर बात मान लेते, तब तो उन्हें 1920 के असहयोग आंदोलन के समय ही यहां से चले जाना चाहिए था। लेकिन ऐसा मुमकिन नहीं हुआ और गांधी को 1942 तक आंदोलन करते रहना पड़ा, औरों के साथ-साथ उन्हें भी जेल जाते रहना पड़ा। गांधी को कमजोर करने के लिए अंग्रेजों ने कैसे मुसलिम लीग, हिन्दू महासभा जैसे साम्प्रदायिक संगठनों, जिन्ना एवं आम्बेडकर जैसे नेताओं को प्रोत्साहित

किया, जैसी बातों को ध्यान में रखने पर गांधी की मजबूरी का भी पता चल जाता है। ब्रिटिश शासन की निर्ममता का जो इतिहास था, उसे देखते हुए यही कहा जा सकता है कि इन क्रांतिकारियों को बचाने के लिए ईसा मसीह भी आकर प्रार्थना करते तो उसका भी कोई प्रभाव नहीं होता।

कुल मिला कर यही कहा जा सकता है कि भगत सिंह आदि के महत्त्व को उजागर करने के लिए जिस तरह गांधी की लांछित छवि प्रस्तुत की जाती है, उसका मुख्य कारण सही जानकारी का तो अभाव है, भगत सिंह के जिक्र के बहाने उनके भक्तों की गांधी के प्रति नासमझी भरी भड़सा भी है और यह वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन का सबसे बड़ा दुश्मन है। □

### प्रकाशकीय घोषणा-पत्र

( फार्म-4, नियम-8 के अनुसार )

प्रकाशन स्थल	: सर्व सेवा संघ, राजघाट, वाराणसी
प्रकाशन अवधि	: पाक्षिक
मुद्रक का नाम	: श्री शिवकुमार निगम
नागरिकता	: भारतीय
पता	: इण्डियन प्रेस कॉलोनी, मलदहिया, वाराणसी
प्रकाशक का नाम	: अशोक भारत
नागरिकता	: भारतीय
पता	: सर्व सेवा संघ राजघाट, वाराणसी
संपादक का नाम	: बिमल कुमार
नागरिकता	: भारतीय
मालिक का नाम	: सर्व सेवा संघ
पता	: सर्व सेवा संघ, राजघाट, वाराणसी

मैं अशोक भारत एतद्द्वारा घोषणा करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं।

—अशोक भारत  
प्रकाशक के हस्ताक्षर

# गांधी का करिश्मा कायम है

□ राधा भट्ट

देश के लगभग हर रंगत के राजनेताओं ने गांधीजी को अव्यावहारिक अतएव अप्रासंगिक मान लिया। लेकिन कोकराझार जैसे हिंसाग्रस्त क्षेत्र में यह छोटा-सा दिखने वाला प्रयोग साक्षी है कि महात्मा गांधी और उनकी अहिंसा आज भी हमारी बहुत-सी समस्याओं का जीवन्त समाधान है।

गांधी की मानव देह की हत्या को 66 वर्ष बीत चुके हैं, आजद भारत द्वारा की गई उनके वैचारिक अस्तित्व की हत्या (अवहेलना) को भी 67 वर्ष पूरे हो रहे हैं। गांधी भारत के मुखपृष्ठ से लगभग मिट से गए हैं, बाकी है उनकी खोखली मूर्तियां, जो चौराहों पर लाखोंलाख कारों का धुंधा और धूल फांकती रहती हैं। गांधी की नित्य-निमित्त की वस्तुओं से संग्रहालय भर गए हैं। नित नूतन तकनीक से उनके बीत चुके जीवन को चलचित्रों में सजीव करने का भ्रम पैदा किया जा रहा है। बौद्धिक शोधों ने पुस्तकों के पृष्ठ-दर-पृष्ठ रंगकर ग्रंथालयों की आलमारियां सजा दी हैं। पर असली गांधी को तो हमने जमीन में इतने गहरे में गाड़ दिया है कि वह ऐसी कोशिशों से भला कहां करवट ले पाएंगे?

गांधी का करिश्मा उनके जीवनकाल में भी अनेक लोगों को अप्रत्याशित व अविश्वसनीय लगता था। आज भी यही लगता है। तब कांग्रेस के कई नेताओं ने उनकी दांडी-यात्रा और नमक-सत्याग्रह को प्रारंभ में आजादी के आंदोलन के लिए प्रासंगिक ही नहीं माना था। 'मुट्टी भर नमक उठा लेने से क्या हो जाएगा?' पर उसी नमक सत्याग्रह ने ब्रिटिश राज की नींव हिला दी थी। बिना शस्त्र उठाए एक महाबली साम्राज्य के पंजों से देश को मुक्त करा देना एक करिश्मा ही था, जिसका कोई उदाहरण उसके पूर्व के इतिहास में देखने को नहीं मिला। गांधी ऐसे ही एक अभिनव आरोहण से इस देश को और विश्व को 'हिंसामुक्त मानव समाज' बनाना चाहते थे, जो फिर से एक करिश्मा ही होता। किन्तु उस नई राह पर चढ़ने का साहस हमारे कर्णधार नहीं जुटा पाए। वास्तव

में, वह आजादी का एक नया अवतार होता। संविधान में अंकित 'वी द पीपुल' का हर व्यक्ति के जीवन में सही इजहार होता। लोग निर्भय होते अपनी बुनियादी आवश्यकताओं के लिए। रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं की लगभग एक-सी गुणवत्ता इस देश पर रहने वाले हर व्यक्ति को प्राप्त हो पायी होती और तब हिंसा का यह तांडव भी न होता।

आज तो अनेक प्रकार की हिंसा से वही 'वी द पीपुल' खुद डरा हुआ है। धर्म, जाति, सम्प्रदाय, वर्ग, दल, पंथ, विचारधारा और कुविचारधारा की बंदूकें उसकी ओर तनी हुई हैं। गरीब डरा हुआ है, तो अमीर भी डरा है। इस डर से देश को कौन बाहर निकाल सकता है? मेरे पास इस प्रश्न का एक ही उत्तर है, 'गांधी'। मैं यहां कोकराझार के आम लोगों के बीच बैठकर गांधी का करिश्मा प्रत्यक्ष देख रही हूं। 2012 के जुलाई माह में असम प्रदेश के अंदर बने इस बोडोलैंड टेरिटरियल एरिया डिस्ट्रिक्ट्स (बीटीएडी) में दो समुदायों के बीच हुए खूनी संघर्ष ने देश को हिला दिया था। ठीक दो सप्ताह के अंतराल से अगस्त, 2012 के प्रारंभ में ही गांधी का भरोसा लेकर हम दसेक लोगों की टोली यहां पहुंची थी। मंजर खतरनाक था, सड़कों पर लाशें तब भी बिछ रही थीं। सबसे खतरनाक थी दहशत, जो हर व्यक्ति, हर परिवार, हर गांव, हर गली, हर संस्था, हर दुकान और हर समुदाय में खम जमाए बैठी थी।

हमारे ड्राइवर ने गाड़ी चलाने से इनकार कर दिया क्योंकि दूसरे समुदाय के राहत-शिविर की दिशा में जाने से उसके प्राणों का खतरा था। सरकारी कर्मचारी शासकीय कार्य के लिए भी अमुक बस्ती की ओर जाती सड़क पर नहीं जाते थे। क्रोध और नफरत ऐसी कि सुशिक्षित महिला नेत्री ने दूसरे समुदाय के अपने विश्वस्त नौकर को यह कहकर निकाल दिया था, 'अपना चेहरा यहां नहीं दिखाना, वरना मैं तुम्हारी गरदन काट दूंगी।'

दूसरों का डर भगाने के लिए स्वयं

निडर होना पड़ता है। उसी निडरता का दीपक लिये हम घूमते रहे, घर-घर, व्यक्ति-व्यक्ति, गांव-गांव और नगर-नगर। 'साथ बैठो, सभी समुदाय एक साथ आओ, अपना भय भगाओ, आप पीढ़ियों से साथ-साथ रहे हो और एक दिन फिर साथ रहोगे', हमारे इन शब्दों से अधिक हमारी निर्भयता ने उन पर असर किया।

'गांव-बूढ़ा' ने हिम्मत की, विभिन्न समुदायों के 'गांवबूढ़ा' निकट आए, केवल दो समुदायों के लोग नहीं, बल्कि विविधतापूर्ण असमी समाज के हर समुदाय के लोग, यानी बोडो, मुस्लिम, राजवंशी, संथाल, राभा, आदिवासी और नेपाली, सब साथ बैठे और इसने उन्हें निर्भय किया। वे बोले, हम पीढ़ियों से एक साथ रहे हैं, हम आज भी विश्वासपूर्वक साथ रहेंगे, किन्हीं दुष्ट तत्त्वों के बरगलाने से अपने पड़ोसी पर हमला नहीं करेंगे। बस हवा बदलने लगी।

धीरे-धीरे शिक्षकों और आचार्यों में यह निर्भयता संक्रमित हुई, वे महीनों से अपने विद्यालयों में अपनी ड्यूटी पर भी नहीं जा पाए थे, अपने सह-शिक्षकों से आंखें मिलाने में उन्हें डर लगता था, पर वे आगे आए। अपने स्कूल-कॉलेज तथा शिक्षण संस्थान में गांधी की बात सुनने के लिए आयोजन किए, उस निर्भय आत्मा ने शिक्षकों और गुरुजनों में ही नहीं, बल्कि छात्र-छात्राओं में भी उत्साह भर दिया। युवा शिविर में धुबड़ी जिले के एक युवक ने भावपूर्ण शब्दों में कहा, 'शांति और अहिंसा के इस शिविर में हम आए हैं, कल तक जो एक-दूसरे के सामने नहीं आते थे, डरकर दूर से ही भाग रहे थे, वे आज साथ बैठे हैं, साथ खा रहे हैं, साथ खेल रहे हैं, गा रहे हैं, बात कर रहे हैं, विश्वास नहीं होता, क्या हम वही हैं? नहीं, हम बदल गए हैं।'

ये युवा सचमुच बदल गए हैं, इनके पीछे गुरुजनों का प्रोत्साहन भरा हाथ है, माता-पिता की सहमति है, विभिन्न समुदायों के ये युवा बांहों में बांहें डालें गांधी की कुटी देखने सेवाग्राम जाते हैं, और गांधी की अंतिम जेल-आगा खां पैलेस पूना जाते हैं और इतना→

# प्रकृति के अधिकार

□ डॉ. ओ. पी. जोशी

दुनिया भर के देशों में मनुष्य को कई कानूनी एवं संवैधानिक अधिकार दिये गये हैं, परन्तु पेड़, पौधों एवं जंतुओं के कोई अधिकार नहीं हैं। पेड़-पौधों एवं जंतुओं का जीवन मनुष्य के रहम या दया भाव पर ही चलता है। यह कैसा आश्चर्यजनक विरोधाभास है कि जो पेड़-पौधे एवं जंतु अपने पर्यावरण के साथ-साथ इस पृथ्वी को मनुष्य के रहने लायक बनाते हैं, उनके अपने कोई अधिकार नहीं हैं। इस विरोधाभास को कम करने के लिए कुछ वर्षों पूर्व दक्षिण अमेरिका के दो देश बोलीविया एवं इक्वाडोर ने प्रकृति-प्रेम की मिसाल कायम करते हुए पेड़-पौधों एवं जंतुओं को सुरक्षा प्रदान करने हेतु संवैधानिक अधिकार देने की व्यवस्था प्रदान की है। 165 सदस्यीय संविधान समिति ने इसे एक वर्ष की मेहनत से तैयार किया एवं 70 प्रतिशत से ज्यादा लोगों ने इस पर सहमति प्रदान की।

इस संविधान में “प्रकृति के अधिकार” नाम से एक अध्याय है। जिसमें स्पष्ट बताया गया है कि “पेड़-पौधों एवं जंतुओं को भी मनुष्य के समान जीवित रहने, विकास करने एवं अपनी उम्र को पूरा करने का नैसर्गिक अधिकार है। लोग, समाज एवं शासन प्रशासन की यह जिम्मेदारी है कि वे पेड़-पौधों एवं जंतुओं के अधिकार का ध्यान रख उन्हें सुरक्षा प्रदान करें। इस संविधान का दुनियाभर के पर्यावरण एवं प्रकृति-प्रेमियों ने सम्मान व स्वागत करते हुए इसे अभूतपूर्व बताते हुए जैवविविधता संरक्षण हेतु महत्त्वपूर्ण बताया है। यह भी बताया गया है कि व्यावहारिक रूप से इसके लागू होने पर कुछ परेशानियां संभावित हैं। परन्तु उनके अनुसार इसमें संशोधन कर इसे

अधिक प्रभावशील बनाया जाएगा।

वैसे जंतुओं की बात छोड़ दें तो पेड़-पौधों में जीवन की उपस्थिति भारतीय मूल के प्रसिद्ध वैज्ञानिक आचार्य जगदीशचंद्र बोस पहले ही सिद्ध कर चुके हैं। पेड़-पौधों में उपस्थित पर्ण हरिम (क्लोरोफिल) की रासायनिक रचना मानव रक्त में उपस्थित हीमोग्लोबिन से काफी समानता दर्शाती है। दोनों ही चार पायरोल रिंग के बने होते हैं। क्लोरोफिल में मैग्नेशियम पाया जाता है, जबकि हीमोग्लोबिन में आयरन (लोहा) होता है। क्लोरोफिल कार्बन डाइऑक्साइड का अवशोषण करता है, जबकि हीमोग्लोबिन ऑक्सीजन (प्राणवायु) का। हिमोग्लोबिन विघटित होकर हीमेटिन बनाता है तो वहीं दूसरी ओर हिमेटाक्सीलान केम्पोचिएनम नामक वृक्ष से प्राप्त हिमेटाक्सीलिन का रंग प्रारंभ में रंगहीन व कणीय होता है, परन्तु प्राणवायु के संपर्क में आकर रक्त की तरह लाल हो जाता है एवं इसे भी हीमेटिन कहते हैं।

मानव के समान ही पेड़-पौधों का जीवन भी सूर्य से जुड़ा होता है और उससे प्रभावित होता है। चयापचयी क्रियाएं (मेटाबोलिक एक्टिविटी) दिन में तेज व रात को धीमी होती है। मनुष्य की भांति पेड़-पौधे रात को सोते तो नहीं हैं परन्तु इमली, शिरीश एवं पुआड़ा की पत्तियां रात के समय मुड़झाकर सोने का आभास जरूर देती हैं। पौधों के वृद्धिकारक हार्मोन ऑक्सीन की उपस्थिति मानव मूत्र में भी देखी गयी है। इसी प्रकार ईस्टोजन हार्मोन खजूर एवं अनार के बीजों में देखा गया है। मनुष्य एवं पौधों दोनों में विकसित नर व मादा अंग पाए जाते हैं तथा यह प्रजनन के बाद बच्चे एवं बीज को पैदा करते हैं।

सोचने, समझने एवं संवेदनशीलता प्रदान करने वाले तंत्रिका संस्थान का पौधों में अभाव होता है। परन्तु विस्कोंसीन वि. वि. के वैज्ञानिकों ने कुछ वर्ष पूर्व इलेक्ट्रोमायोग्राफ की मदद से छुईमुई के पौधे पर प्रयोग कर यह बताया कि स्पर्श करने पर इसकी पत्तियों का सिकुड़ना सूक्ष्म स्तर पर तंत्रिका संस्थान के होने का आभास देता है।

कुछ प्राचीन ग्रंथों में वृक्षों को मानव के बराबर माना गया है। उपनिषद में प्राचीन फल, फूल, तथा वृक्षों को ताकतवर मानव बताया गया है। वृक्षों की पत्तियां, छाल, काष्ठ व रेशों की तुलना क्रमशः मानव के फेफड़ों मांस, हड्डी एवं बल से की गयी है। उपरोक्त सारी समानताएं यह दर्शाती हैं कि पेड़-पौधे मनुष्यों से ज्यादा भिन्न नहीं हैं। इसलिए उन्हें संवैधानिक अधिकार दिया जाना आवश्यक है।

हमारी सभ्यता एवं संस्कृति में तो पेड़-पौधों एवं जानवरों का काफी महत्त्व दर्शाया गया है। कई अवसरों पर पेड़-पौधों की पूजा की जाती है तो कई जानवर तो भगवान के वाहन भी हैं। अतः हमारे देश में इन्हें संवैधानिक अधिकार प्रदान करने हेतु ज्यादा गहराई से सोचा जाना चाहिए। हमारे यहां वन, वन्यजीव एवं पर्यावरण सुरक्षा हेतु कई कानून एवं अधिनियम हैं, परन्तु उनके कोई संवैधानिक अधिकार नहीं हैं। जीवों के अधिकार का कानून लागू होने पर यह संभव है कि पेड़ों को काटने पर हत्या का मामला दर्ज हो। संयुक्त राष्ट्र संघ को भी चाहिए कि वह मानव अधिकार घोषणापत्र के साथ-साथ प्रकृति के अधिकार का भी कानून बनवाए एवं सदस्य देशों में इसका पालन भी करवाए। □

→ अभिप्रेरित होते हैं कि वापस आकर अपने कॉलेज के प्रिंसिपल से आग्रह करते हैं, ‘हम 2 अक्टूबर को गांधी का जन्मदिन मनाएंगे, अपने कॉलेज में अहिंसा दिवस मनाएंगे।’ कई कॉलेजों में ही नहीं, कुछ गांवों में भी ‘अहिंसा दिवस’ का आयोजन ‘अहिंसा पक्ष’ के रूप में आयोजित करके इन युवाओं ने हिंसा के अपयश को ढो रही इस भूमि में अहिंसा का उत्साह भर दिया। दूसरे शांति

सद्भावना शिविर में युवाओं ने अपने समाज की सबसे बड़ी समस्या के रूप में हिंसा को चिह्नित किया है, इसका निराकरण क्या हो? इसकी उन्हें खोज है, यह समझ तो उन्होंने टटोल ली है कि हिंसा का जवाब हिंसा नहीं। इसको अपने आसपास के समाज में फैलाने का निश्चय भी वे कर चुके हैं। कोकराझार का यह क्षेत्र देश भर में अपनी क्रूर हिंसा के लिए बदनाम हो गया है। इन युवाओं

को यह लज्जा का सबब लगता है। यह क्षेत्र अपना यह कलंक धोकर प्रेम का क्षेत्र बने, इस विचार का आकर्षण युवा-मन में स्थान बना रहा है।

क्या यह गांधी का ही करिश्मा नहीं है? क्या यह गांधी का पुनर्जन्म नहीं है? गांधी ने कहा था, ‘मैं अपनी कब्र से भी आवाज दूंगा।’ लगता है, उनकी आत्मा की आवाज इन युवाओं के दिलों में उतर रही है। □

# पूँजीवाद का उदय

□ कश्मीर उप्पल

पूँजीवाद शब्द की व्युत्पत्ति 'पूँजी' शब्द से हुई है। अतः पूँजीवाद को धन के शास्त्र के रूप में देखा जाता है, लेकिन अब यह पूर्णतः गलत साबित हो चुका है। पूँजीवाद का एक तत्त्व पूँजी है परंतु यह इसके अन्य तत्त्वों के बिना एक तरह से निष्क्रिय रहता है। पूँजी के अन्य घटकों में मशीनें, तकनीक, शक्ति के साधन, कच्चा माल और ज्ञान-विज्ञान का स्तर शामिल है। आजकल इन सभी तत्त्वों में तकनीक सबसे प्रमुख बन गयी है। अमेरिका और यूरोप की तकनीक ही है जो दूसरे देशों में कच्चे माल और बाजार की खोज में घूम रही है। गौरतलब है विश्व के अनेक देशों के पास धन तो है पर तकनीक नहीं है।

पूँजीवाद की पहली अवस्था में कोलम्बस की 'खोज' के फलस्वरूप गुलामों के सस्ते श्रम से ही यूरोप में कृषि और यातायात का तेजी से विकास शुरू हुआ था। पूँजीवाद का अर्थ सर्वप्रथम दो ऐसी पुस्तकों के माध्यम से चर्चित हुआ था, जो अपनी अवधारणा में परस्पर विरोधी हैं। एडम स्मिथ की पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' को पूँजीवादी व्यवस्था की आधारशिला माना जाता है। एडम स्मिथ ने सरकार की भूमिका को कानून व्यवस्था और जनकल्याण तक सीमित कर आर्थिक क्रियाकलापों से दूर रखा था। उनके अनुसार राज्य का काम शासन करना है, न कि व्यापार करना। इस तरह पूँजीवाद में निजी क्षेत्र केवल आर्थिक कार्यकलाप सम्पन्न करता है।

प्रसिद्ध लेखक मारिस डॉब के अनुसार पूँजीवाद प्रणाली पर चर्चा के लिए मूलतः कार्ल मार्क्स जिम्मेदार हैं। कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंजिल द्वारा सन् 1848 में 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र' (कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो) में पूँजीवाद के विभिन्न स्वरूपों की चर्चा की गयी थी। इसी घोषणा-पत्र के माध्यम से दुनिया के सामने 'पूँजीवाद का सत्य' उजागर हुआ था। इस घोषणा-पत्र में पूँजीवाद के संबंध में कहा गया है कि पूँजीपति से मतलब आधुनिक

पूँजीपति वर्ग से अर्थात् सामाजिक उत्पादन के साधनों के स्वामियों और उजरती श्रम के मालिकों से है। सर्वहारा से मतलब आधुनिक उजरती मजदूरों से है, जिनके पास उत्पादन का अपना खुद का कोई साधन नहीं होता, इसलिए वे जीवित रहने के लिए अपनी श्रमशक्ति को बेचने के लिए विवश होते हैं।

मार्क्स की इस परिभाषा से यह बात समझ में आनी चाहिए कि महात्मा गांधी चरखे को इतना महत्व क्यों देते थे। गांधीजी ने उजरते मजदूरों को, जिनके पास उत्पादन का अपना खुद का साधन नहीं होता, चरखे से उत्पादन का एक साधन प्रदान किया था। गांधी लघु एवं कुटीर उद्योगों के माध्यम से भी मजदूरों को जीवन की सुरक्षा प्रदान करना चाहते थे। गांधीजी के इन प्रयोगों के फलस्वरूप ही श्रमिक जीवित रहने के लिए अपनी श्रमशक्ति बेचने को बाध्य नहीं होते हैं।

पूँजीवाद में मजदूरों के एक बहुत बड़े वर्ग को उत्पत्ति के साधनों के स्वामित्व से अलग कर दिया जाता है। इस स्थिति में प्रतीत होता है कि श्रमिकों की जीविका भूमि, कच्चे माल और बैंकों आदि के स्वामियों पर निर्भर करती है। इसलिए देश के अधिकांश लोगों की जीविका, सुरक्षा और व्यक्तिगत स्वतंत्रता देने वालों के रूप में पूँजीपतियों की भूमिका स्वतंत्रता देने वालों के रूप में पूँजीपतियों की भूमिका किसी राष्ट्र की भूमिका से भी बड़ी दिखने लगती है। वैसे पूँजीवाद में दो वर्ग होते हैं। एक उत्पादन के साधनों के स्वामी और दूसरा उजरते मजदूरों का।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री सोम्बार्ट ने अपने अध्ययन में मध्यकाल में सम्पत्ति के कुछ हाथों में एकीकरण का अध्ययन किया था। उनके अनुसार रोम के पोप और सामंतों के आदेश से कुलीन जागीरदारों और यूरोप के व्यापारिक केन्द्रों के कुछ व्यक्तियों के हाथों में विशाल सम्पत्ति एकत्रित होने लगी थी।

मध्यकाल में सर्वप्रथम दस्तकारी पूँजीवाद

प्रारम्भ हुआ था। इसमें व्यापारी अग्रिम राशि देकर कारीगरों का माल खरीद लेते थे। इस माल को व्यापारियों द्वारा दुनिया के बाजारों में ऊँची कीमत पर बेचा जाता था। 16वीं शताब्दी से लेकर 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक व्यापारियों की आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका रही थी। इतिहासकार इसका उल्लेख व्यापारिक क्रांति के रूप में करते हैं। इसमें मजदूरों की यथास्थिति बनी रही और लाभ के रूप में अतिरिक्त पूँजी व्यापारियों के हाथ में केन्द्रित होती रही।

पश्चिम यूरोप के देशों में धर्म ने भी पूँजीवाद के विकास के महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। प्रोटेस्टेंट सुधारों (रिफॉर्मस) के फलस्वरूप सम्पत्ति का अधिकार, उत्तराधिकार का नियम, अनुबंध की स्वतंत्रता, स्वतंत्र बाजार, साख प्रणाली चलन में आये और राजनैतिक संगठनों ने पूँजीवाद के विकास हेतु आवश्यक आधार स्थापित किया था। धार्मिक केन्द्रों द्वारा धन अर्जित करने वाले साहसिक कार्यों का सम्मान किया जाने लगा था। इसके फलस्वरूप लोगों में अधिकतम धन अर्जित करने की भावना उत्पन्न हुई।

औद्योगिक क्रांति कोई अचानक होने वाली घटना नहीं थी। पंद्रहवीं शताब्दी के बाद लगभग 150 वर्षों में इसका विकास काल फैला हुआ था। युद्ध और व्यापार में विजय पाने के लिए 'व्यापारिक-पूँजीवाद' ने विज्ञान को प्रोत्साहन दिया। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में नये बाजारों (देशों) पर अधिकार के प्रश्न पर कई युद्ध हुए। ब्रिटेन ने अपनी सामुद्रिक शक्ति के बल पर पुर्तगाल, स्पेन, हालैण्ड और फ्रांस पर विजय प्राप्त की थी। आर्थर बर्नी के अनुसार ब्रिटिश साम्राज्यवादी राज्य को प्रारम्भ में अमेरिका और बाद में भारत के अधिकार से विशाल शक्ति प्राप्त हुई थी। भारत की आर्थिक लूट से प्राप्त सम्पत्ति से ही ब्रिटेन की औद्योगिक क्रांति की नींव रखी गयी थी। (सप्रेस)

# वन बचे, पानी बचे, देश बचे

□ सुरेश भाई

वनों के विनाश को रोकने में भारत सरकार के सन् 1983 के चिपको के साथ उस समझौते का खुला उल्लंघन माना गया है, जिसमें 1000 मीटर की ऊँचाई से वनों के कटान पर लगे प्रतिबंध को 10 वर्ष बाद यानी सन् 1994 में यह कहकर हटा दिया गया कि हरे पेड़ों के कटान से जनता के हक-हकूकों की आपूर्ति की जायेगी। जबकि सन् 1983 में चिपको आंदोलन के साथ हुए इस समझौते के बाद सरकारी तंत्र ने वनों के संरक्षण का दायित्व स्वयं उठाया था। इसके बावजूद भी टिहरी, उत्तरकाशी जनपदों में सन् 1983-98 के दौरान गौमुख, जांगला, नेलंग, कारचा, हर्षिल, चौरगीखाल, हरून्ता, अडाला, मुखेम, रयाला, मोरी, भिलंग आदि कई वन क्षेत्रों में कोई भी स्थान ऐसा नहीं था, जहां पर वनों की कटाई प्रारम्भ न हुई हो। सन् 1994 में वनों की इस व्यावसायिक कटाई के खिलाफ “रक्षासूत्र आंदोलन” प्रारम्भ हुआ। पर्यावरण संरक्षण से जुड़े सामाजिक कार्यकर्ताओं ने वनों में जाकर कटान का अध्ययन किया था। यहां पर राई, कैल, मुरेंडा, खर्सू, मौरू, बांझ, बुरांस, के साथ अनेकों प्रकार की जड़ी-बूटियां एवं जैवविविधता मौजूद हैं। अध्ययन के दौरान पाया गया कि वन विभाग ने वन निगम के साथ मिलकर हजारों हरे पेड़ों पर छपान कर रखा था। वन निगम जंगलों में रातों-रात अंधाधुंध कटान करवा रहा था। कई सामाजिक संस्थाओं द्वारा बनायी गयी पर्यावरण टीम ने इसकी सूचना आस-पास के ग्रामीणों को दी थी। यह सूचना मिलने पर गांव के लोग सजग हुए। यह जानने का प्रयास भी किया गया था कि वन निगम आखिर किसकी स्वीकृति से हरे पेड़ काट रहा है। इसकी तह में देखने से पता चला कि क्षेत्र के कुछ ग्राम प्रधानों से ही वन

विभाग ने यह मुहर लगवा दी थी कि उनके आस-पास के जंगलों में काफी पेड़ सूख गये हैं और इसके कारण गांव की महिलाएं जंगल में आना-जाना नहीं कर पा रही हैं। इसमें दुर्भाग्य की बात यह थी कि जनप्रतिनिधि भी जंगलों को काटने का ठेका लिये हुए थे, जिसके कारण ग्रामीणों को पहले अपने ही जनप्रतिनिधियों से संघर्ष करना पड़ा था। इस प्रकार वन कटान को रोकने के संबंध में टिहरी-उत्तरकाशी के गांव थाती, खवाड़ा भेटी, डालगांव, चौंडियाट गांव, दिखोली, सौड़ भेटियारा, कदम, ल्वारखा, मुखेम, हर्षिल, मुखवा, उत्तरकाशी आदि कई स्थानों पर हुई बैठकों में पेड़ों पर “रक्षासूत्र” बांधे जाने का निर्णय लिया गया था, जिसे रक्षासूत्र आंदोलन के रूप में जाना जाता है। रक्षासूत्र आंदोलन की मांग थी कि जंगलों से सर्वप्रथम लोगों के हक-हकूकों की आपूर्ति होनी चाहिये, और वन कटान के सर्वाधिक दोषी वन निगम में आमूल-चूल परिवर्तन करने की मांग भी उठायी गयी थी। इसके चलते ऊंचाई की दुर्लभ प्रजाति कैल, मुरेंडा, खर्सू, मौरू, बांझ, बुरांस, दालचीनी, देवदार आदि की लाखों वन प्रजातियों को बचाने का काम रक्षासूत्र आंदोलन ने किया है।

ऊंचाई पर स्थित वन संपदा के कारण वर्षा नियंत्रित रहती है और नीचे घाटियों की ओर पानी के स्रोत निकलकर आते हैं। रक्षासूत्र आंदोलन के कारण महिलाओं का पेड़ों से भाइयों का जैसा रिश्ता बना है और जिस तरह चिपको आंदोलन की महिला नेत्री गौरा देवी ने जंगलों को अपना मायका कहा है, उसको रक्षासूत्र आंदोलन ने मूर्त रूप दिया है और प्रभावी रूप से वनों पर जनता के पारम्परिक अधिकारों की रक्षा का बीड़ा उठाया है। रक्षासूत्र आंदोलन के कारण भागीरथी, भिलंगना, यमुना, टौंस, धर्मगंगा, बालगंगा आदि कई नदी जलग्रहण क्षेत्रों में वन निगम

द्वारा किये जाने वाले लाखों हरे पेड़ों की कटाई को सफलतापूर्वक रोक दिया गया है। यहां तक कि टिहरी और उत्तरकाशी में सन् 1997 में लगभग 121 वन कर्मियों को वन मंत्रालय की एक जांच कमिटी द्वारा निर्लंबित भी किया गया था।

रक्षासूत्र आंदोलन ने “ग्राम वन” के विकास-प्रसार पर भी ध्यान दिया। इसके अन्तर्गत जहां-जहां पर लोग परम्परागत तरीके से वन बचाते आ रहे हैं और इसका दोहन भी अपनी आवश्यकतानुसार करते हैं, ऐसे कई गांवों में ग्राम वन के संरक्षण के लिए भी पेड़ों पर रक्षासूत्र बांधे गये। ग्राम वन का प्रबंधन, वितरण, सुरक्षा गांव आधारित चौकीदारी प्रथा से की जाती है। वन चौकीदार का जीवन निर्वाह गांव वालों पर निर्भर रहता है। इसके कारण गांव वालों की चारापत्ती खेती, फसल-सुरक्षा, जंगली जानवरों से सुरक्षा तथा पड़ोसी गांव से भी जंगल की सुरक्षा की जाती है। इससे महिलाओं के कष्टमय जीवन को राहत मिलती है। वन संरक्षण व संवर्द्धन के साथ-साथ जल-संरक्षण के काम को भी सफलतापूर्वक आगे बढ़ाया गया। रक्षासूत्र आंदोलन के चलते सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा बनायी गयी हिमालयी पर्यावरण शिक्षा संस्थान ने सन् 1995 से लगातार गांव-गांव में महिला संगठनों के साथ 400 छोटे तालाब बना दिये हैं, इसके साथ ही अग्नि नियंत्रण के लिए भी स्थान-स्थान पर रक्षासूत्र आंदोलन किया गया है। परन्तु जब से लोगों को हक-हकूक मिलने कम हुए हैं तब से वनों को आग से बचाये रखना भी चुनौती है।

रक्षासूत्र आंदोलन में मन्दोदरी देवी, जेठी देवी, सुशीला पैन्थूली, सुमती नौटियाल, बसंती नेगी, मीना नौटियाल, कुंवरी कलूडा, गंगा देवी रावत, गंगा देवी चौहान, हिमला बहन, उमा देवी, विमला देवी, अनिता देवी और क्षेत्र की तमाम उन महिलाओं ने, जो



मुख्य रूप से दिखोली, चौदियाट गांव, खवाड़ा, भेटी, बूढ़ाकेदार, हर्षिल, मुखेम आदि कई गांवों से हैं, अपना सक्रिय योगदान दिया है। रक्षासूत्र आंदोलन की सफलता ने वनों के प्रति एक नई दृष्टि को जन्म दिया। इसके बाद उत्तराखण्ड के विभिन्न इलाकों में विभिन्न मुद्दों को लेकर वनान्दोलन चलने लगे। किन्तु रक्षासूत्र आंदोलनकारी हर वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस पर वन बचाओ हेतु वन सम्मेलन करवाते हैं, जिसमें प्रत्येक क्षेत्र से कार्यकर्ताओं द्वारा वन सम्बन्धी जानकारी उपलब्ध करवाई जाती है। आंदोलन की खास बात यह है कि इससे जुड़े कार्यकर्ता अपने-अपने क्षेत्र में प्रत्येक वर्ष सघन वृक्षारोपण के साथ-साथ वनों को बचाने के लिए पेड़ों पर रक्षा बंधन करवाते हैं, ताकि लोगों की इन पेड़ों से आत्मीयता बंधे और वनों का व्यावसायिक दोहन न हो सके।

रक्षासूत्र आंदोलन द्वारा गठित 'उत्तराखंड' वन अध्ययन जन समिति ने अपनी एक रिपोर्ट में उन क्षेत्रों का विस्तृत ब्यौरा दिया है जहां-जहां पर पिछले 15-20 वर्षों के दौरान अवैध कटान किया गया है। उत्तरप्रदेश वन निगम को प्रतिवर्ष जो करोड़ों रुपयों का लाभ मिला है उसमें 80 प्रतिशत लाभ उत्तराखण्ड के वनों के कटान से प्राप्त हुआ है।

**पेड़ों पर रक्षासूत्र बांधकर जलवायु नियंत्रण का संदेश :** धरती को प्राण वायु देने वाले पेड़, पौधे एवं वनस्पतियां हैं। जहां-जहां पर घना जंगल हो और उसमें भी यदि चौड़ी पत्ती वाले वन की अधिकता हो, तो वहाँ पर लोगों को स्वच्छ जल, हवा और प्राकृतिक सौंदर्य का भरपूर आनंद मिलता है।

बदलते जलवायु के दौरान पेड़-पौधों और वनस्पतियों का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। खासकर हिमालय में रहने वाले वनवासियों का जीवन जंगल के बिना अधूरा है। आज के संदर्भ में जंगलों का सबसे बड़ा उपकार जलवायु को नियंत्रित करने में है। दूसरा, पर्वतीय क्षेत्रों की बहनों को घास, लकड़ी, पानी की आपूर्ति होती है।

जहां-जहां जंगल गांव से दूर भाग रहे हैं, वहां पर महिलाओं को घास, लकड़ी का संकट हो गया है। इस संकट से बचने के लिए जिस प्रकार भाई-बहन का रिश्ता बना हुआ है, रक्षा बंधन में बहनें अपने भाई के हाथों में रक्षा का धागा बांधकर जन्म-जन्म तक के रिश्ते को मजबूत करती हैं, उसी तरह बहनें अब पेड़ों को जिंदा रखने के लिए पेड़ों के तनों पर राखी बांधती हैं। इसके संदेश स्पष्ट हैं कि जंगल को मायके रूप में देखने वाली महिलाओं को लगता है कि पेड़ यदि नहीं रहेंगे तो, उनकी घास, पानी, लकड़ी, खेती चौपट हो सकती है। जहां जंगल हैं वहां की कृषि-भूमि में आर्द्रता है। पहाड़ी क्षेत्रों में एक ही खेत में बारह प्रकार की फसल उगाने में जंगलों का अद्भुत योगदान है। एक ही खेत में मंडवा, गहत, उड़द, तिल, भंगजीर, सुँटा, सोयाबीन, ककड़ी, रामदाना, कद्दू के साथ-साथ जंगली सब्जी कंडलिया, ढोलण, लेंगड़ा जैसी अमूल्य फसलों को लोग प्राप्त करते हैं।

आज वनों पर व्यापारिक दृष्टि होने से बारहनाजा भी प्रभावित हो गया है। महिलाओं का जीवन संकट में पड़ गया है। बच्चों का स्वास्थ्य बिगड़ गया है। घरों में जंगली सब्जियों के अभाव में बाहर से आ रही सब्जियों के साथ तरह-तरह की बीमारियां गांव में पहुंच रही हैं। इसके कारण गरीब व्यक्ति की जीविका नष्ट हो गयी है। खाद्य सुरक्षा खतरे में पड़ गयी है।

वैश्वीकरण के कारण पोषित हो रही निजीकरण की व्यवस्था ने वनों की हजामत करके उसके स्थान पर व्यावसायिक कृषि करने की नाकाम योजनाओं को अंजाम दे दिया है। इससे एक ओर जंगल समाप्त हो रहे हैं, दूसरी ओर बाहरी बीजों से उगायी जाने वाली फसलों से खेती की उपजाऊ जमीन की ताकत जल्दी ही समाप्त हो जाती है।

मिश्रित वनों को बनाने का दृष्टिकोण वन व्यवस्था के पास नहीं है। वेतन पर आधारित

वन व्यवस्था कभी नहीं चाहती है कि मिश्रित वन को तैयार करने में गांवों के साथ मेहनत की जाय।

जिन जंगलों को पालने तथा आग से बचाने में लोगों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है, वह केवल वन विभाग के हाथों की कठपुतली बनाये रखने से, वे रहे-सहे जंगलों का हिसाब अब कार्बन क्रेडिट के रूप में देखने लगे हैं। अतः लोगों के बचाये जंगल का पैसा किसी और के काम आयेगा इससे बड़ा छलावा वनवासी जनता के साथ और कोई आज के जमाने में नहीं है।

अब महिलाओं ने आवाज उठाई है कि जो जंगल बचायेगा वही कार्बन क्रेडिट का मालिक होगा, इसका लाभ गांव के किसानों को सीधे मिलना चाहिये। इस समय दुनिया भर में समस्या आ गयी है कि वनवासियों को उनके वनों से अलग-थलग रखकर के पूँजीपति व कार्पोरेट घरानों के लोग हरित क्षेत्र के नाम पर भी पैसा बटोरने लगे हैं। बाजारीकरण के नाम पर इनको खुली छूट है जिसे जितना चाहिये उतनी लूट की जा रही है। गढ़वाल विश्वविद्यालय के पर्वतीय शोध केन्द्र ने रक्षासूत्र की घटनाओं पर एक पुस्तक तैयार की है।

नवसृजित उत्तराखण्ड राज्य में जलनीति बनाने की जोरदार वकालत रक्षासूत्र आंदोलन की टीम कर चुकी है। इसके लिए लोक जलनीति बनाकर अब तक आयी सभी राज्य सरकारें इसका स्वागत करके इसके अनुसार जलनीति बनाने का आश्वासन देती रहती हैं। उत्तराखण्ड राज्य निर्माण के बाद रक्षासूत्र आंदोलन की टीम ने नये राज्य की रीति-नीति के लिए राज्य व्यवस्था को जनता के सुझाव कई दस्तावेजों के माध्यम से सौंपे हैं। चिपको के बाद रक्षासूत्र आंदोलन पेड़ों की कटान रोकने तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि जल, जंगल, जमीन की एकीकृत समझ बढ़ाने के प्रति लोगों को जागरूक भी करता आ रहा है, जिसके परिणामस्वरूप उत्तराखण्ड नदी बचाओ अभियान एवं हिमालय नीति के विषय पर लगातार संवाद जारी है। □

# पानी स्वच्छ होने तक

□ विमल भाई

5 दिसंबर, 1913 को केरल उच्च न्यायालय ने अपने आदेश में कहा कि एनजीएल कंपनी 'नियंत्रित उत्पादन' कर सकती है, चूंकि अभी तक की तमाम समितियों ने कहा है कि प्रदूषण है, इसलिए नेशनल एंवायरनमेंटल इंजिनियरिंग रिसर्च इंस्टीट्यूट (नीरी संस्थान) से जांच करायी जाए। नीरी की रिपोर्ट दो महीने में आ जानी चाहिए। कंपनी के गेट के बाहर धरना जारी है। 1 नवंबर से 2 सत्याग्रही अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल पर बैठे हैं। 7 नवंबर को पुलिस ने स्वास्थ्य बिगड़ने पर उन्हें उठाया तो 2 अन्य लोग बैठे। 11 नवंबर को केरल के उद्योगमंत्री ने कहा, हम कंपनी को इस तरह नहीं चलने देंगे। वे मशीनें बदलें और प्रदूषण रोकें।

केरल उच्च न्यायालय के आदेश बहुत मजेदार हैं। पहले जब कंपनी को लोगों के आंदोलन से खतरा लगा तो वह उच्च न्यायालय गयी और वहां से उन्हें राज्य द्वारा पुलिस सुरक्षा प्राप्त करने का आदेश मिल गया। कंपनी की तथाकथित सुरक्षा में लगी इस पुलिस ने क्या-क्या कहर ढाई, इसे अस्पतालों के चक्कर काटते लोग बता सकते हैं।

ऐसी अनेक सच्चाइयां सामने आयी हैं, जो किसी सुदूर आदिवासी क्षेत्र की कहानी नहीं है। यह समृद्ध केरल के त्रिशूर जिले के कतीखुलम गांव की कहानी है। जहां केरल पुलिस ने शर्मनाक-बर्बरतापूर्ण कार्य किया। 1976 में त्रिशूर जिले के खत्तीकुंडम गांव में जापान की कंपनी के साथ जुड़ी हुई 'नीता गैलेटिन इंडिया लिमिटेड' कंपनी जब से चालू हुई तब से क्षेत्र का पानी, हवा, मिट्टी खराब हो रही है। कैंसर फैल रहा है। प्रत्येक परिवार से एक-एक लोग मारे गए। सरकार की एक समिति एनजीएल ने स्वयं बताया कि पास के कुओं का पानी पीने लायक नहीं है। गांव में गैस रिसाव से सांस की बीमारी फैली,

स्थानीय पुलिस ने एनजीएल के खिलाफ याचिका दायर की है। वह केस चालू है।

21 जुलाई, 2013 को एनजीएल कंपनी के इशारे पर प्रदर्शनकारियों को पुलिस ने पीछा करके पीटा और सिर पर चोट मारी है। जानसन को 50 चोटें हैं, 6 टांके लगे हैं। वे बताते हैं कि 20 जुलाई की रात को हमने घोषणा की कि हम शांतिपूर्ण रहेंगे। लोग दूर से आए थे। वे पीछे थे और हमारे साथ खड़े थे, अहिंसक थे हम, सफेद झंडों के साथ। पुलिस ने बैरीकेट पर रोका, हम रुके। भाषण हुए। फिर गेट के पास पहुंचे 2000 से 25000 लोग थे। 3.30 बजे घोषणा हुई फिर पुलिस ने 15 मिनट में महिलाओं को गिरफ्तार किया। फिर बिना किसी अधिकारी की अनुमति और घोषणा किए, पानी की बौछार की गयी। कंपनी का गेट खुला, 400 के लगभग पुलिस वाले अंदर से आए। उन्हें सारी रात जगाया गया था। फिर शराब दी गयी थी। पुलिस ने लैपटॉप, कैमरा आदि लूटा। लोगों को कई किलोमीटर तक दौड़ाया। सब पूर्व नियोजित कार्य था। हर आदमी को 50 लाठी मारी होगी। मैं 40 दिनों से एनजीएल के दरवाजे पर चल रहे सत्याग्रह में शामिल था। मुझे मारा और कहा भागो यहां से। कन्नूर जिले से आंदोलन की समर्थक 22 वर्षीया शिनी को बुरी तरह मारा है। वह दो महीने से फोटो ले रही थी। 40-50 मोटरबाइक, कारें, पुलिस ने उठा लीं।

अनिल कुमार पर 40 केस है, वह संघर्ष समिति के समन्वयक हैं। बताते हैं, दवाई के कैप्सूल के खोल बनाने के लिए एनजीएल कंपनी प्रतिदिन 96 टन जानवरों की हड्डी इस्तेमाल करती थी, अब 140 टन करती है। 90 टन कचरा प्रतिदिन निकलता है, जिसे चालकुडी नदी में डाला जाता है।

1,40,000 लीटर एसिड को सुधार करके पानी न्यूराइस्ट किया जाता है। इससे प्रतिदिन पानी में ऑक्सीजन घटती जा रही है तथा मछलियां खतम हो रही हैं। हमें कर्जा नहीं मिल रहा है। गांव में जमीन का मूल्य गिरा है। शादियां रुकी हैं, गर्भपात हो रहे हैं। 30 प्रतिशत लोगों को कैंसर, 60 प्रतिशत लोगों को दूसरी बीमारियां और 10 प्रतिशत लोगों को मानसिक आघात है।

लोगों ने बताया कि चावल भी प्रदूषित हो गया है, गाय का दूध भी बदबू देता है। एक तालाब बनाया है, जिसमें बेस अवशिष्ट डालते हैं, दिखाने को बांस लगाया है। कंपनी अपनी कोच्चि की फैक्टरी का ठोस अवशिष्ट भी यहीं लाकर डालती है। एनजीएल कंपनी केरल आयुर्वेदिक दवाइयों का ठोस अवशिष्ट मिलाती है, कम्पोस्ट बनाने हेतु किन्तु वास्तव में वह खतरनाक अवशिष्ट बनता है। केरल पुलिस भी बोतल का पानी खरीदती है जबकि कंपनी का कहना है कि गांव का पानी साफ है।

21 जुलाई, 2013 को शासन-प्रशासन कंपनी के गठबंधन द्वारा लोगों पर जुल्म की खबर के बाद देश के आंदोलनों ने एक जन आयोग बनाया, जिसमें मेरे अलावा कर्नाटक उच्च न्यायालय के वकील क्लीफ्टन रोजारियो, पर्यावरण कार्यकर्ता और गंदगी की विशेषज्ञ सुश्री श्वेता नारायण, केरल वन अध्ययन संस्थान के डॉ. टी. वी. संजीव, समाजविज्ञानी डॉ. देविका, पीयूसीएल, केरल के अध्यक्ष वकील पी. ए. पॉरिन, लेखिका व महिला डॉ. सुश्री खतीजा मुमताज तथा डॉ. डी. सुरेन्द्रनाथ थे। 30 जुलाई को हम प्रभावितों से मिले और कंपनी के क्षेत्र को देखा। मजे की बात थी हम जब कंपनी के आसपास थे तो वहां बहुत अच्छी खुशबू आ रही थी पर दोपहर होते-होते कंपनी की असली बदबू ने वहां रहना मुश्किल कर दिया। लोग महीनों

से वहां धरना दे रहे हैं।

31 जुलाई को हम जिलाधीश सुश्री एम. एस. जया व पुलिस कमिश्नर श्री पी. प्रकाश व पुलिस सुपरीटेंडेंट सुश्री अजीता बेगम से मिले। इनके साथ तहसीलदार थे। किसी में भी इस घटना पर कहीं कोई शर्म नहीं नजर आयी। तहसीलदार का कहना था कि पुलिस के वाहनों पर हमला हुआ तब हमने लाठी चार्ज की इजाजत दी थी। घटना 4 बजे हुई। हमारे 20 पुलिस घायल हुए व 3 को ज्यादा चोटें आयीं और ग्रामीणों में 37 लोग घायल हुए। महिला पुलिस प्रधान का कहना था कि पत्थर आए तो हमें भी कुछ करना था वरना लोग पुलिस को हल्के में लेंगे। तर्क तो बड़ा शानदार दिया गया। वैसे उनके ही मुताबिक आंसू गैस पार्टी थी, वाटर कैनन का इंतजाम था। किन्तु इस्तेमाल क्यों नहीं किया? इसका उत्तर उनके पास नहीं था। पुलिस की मर्यादा रक्षा के लिए लोगों पर 40 आपराधिक केस दायर किये गये हैं।

मुझे तो दिल्ली दूरदर्शन पर आया अनेक छोटी प्यारी-सी कहानियों वाला धारावाहिक 'मालगुडी डेज' याद था। और यहां ये भयानक कहानियां सुनने को मिलीं। तब मेरा दृष्टिकोण केरल के लिए बदल जाता पर ग्रामप्रधान का मजबूत चेहरा सामने आता है। महिला प्रधान डेजीफ्रांसिस लोगों के अधिकारों की रक्षा के लिए मजबूती से खड़ी हैं। उसने अपनी पार्टी के विधायक से साफ कहा कि आप मेरे नेता हैं पर मैं अपने लोगों को नहीं छोड़ सकती। 21 जुलाई की घटना के सारे समय प्रधान डेजीफ्रांसिस लोगों के पास ही रहीं। उसने 3 साल से एनजीएल को अनापत्ति पत्र नहीं दिया है। देखा जाए तो एनजीएल असंवैधानिक तरह से चल रही है।

लड़ाई जारी है, धरना जारी है, भूख हड़ताल जारी है, प्रदूषण रुकने तक, पानी स्वच्छ होने तक, हवा में खुशबू आने तक, अहिंसक जंग जीतने तक। □

## रपट

## शांति-सद्भावना विद्यार्थी तथा युवा शिविर

बी.टी.ए.डी. (असम) के हिंसा से प्रभावित इलाकों में युवा पीढ़ी के बीच शांति, सद्भावना और भाईचारे के उद्देश्य से, गांधी शांति प्रतिष्ठान, गुजरात विद्यापीठ, शांति साधना आश्रम, आशा दर्शन के सहयोग से सर्व सेवा संघ द्वारा 21 से 24 जनवरी, 2014 के बीच गांवबुड़ा भवन, कोकराझार, बी.टी.ए.डी., असम में एक चार दिवसीय युवा शिविर का आयोजन किया गया, जिसे 'शांति-सद्भावना विद्यार्थी तथा युवा शिविर' नाम दिया गया। विशिष्ट अतिथि श्री दानेश्वर गोयरी ने, जो बी.टी.सी.एल.ए. के सदस्य हैं, इस शिविर का उद्घाटन किया। महात्मा गांधी के चित्रों को सूतमाला पहनाकर श्री गोयरी ने कहा कि गांधीजनों ने बी.टी.ए.डी. के हिंसा प्रभावित क्षेत्रों में जैसे चमत्कार कर दिखाया है। किन्तु उनकी उपस्थिति वहां और लम्बे समय तक रहे, इसकी आवश्यकता है। सुश्री राधा भट्ट ने, जो सर्व सेवा संघ की अध्यक्ष एवं गांधी शांति प्रतिष्ठान की चेयरपर्सन हैं, उद्घाटन समारोह की अध्यक्षता की। सर्व सेवा संघ से आये अतिथियों तथा सचिव का स्वागत करते हुए श्री चंदनपाल ने कहा कि पिछले लगभग डेढ़ साल से गांधीजनों ने बी.टी.ए.डी. में शांति की पुनर्स्थापना हेतु अपने सीमित संसाधनों के माध्यम से विविध कार्यक्रम आयोजित किये हैं। उन्होंने क्षेत्र की जनता के प्रति कृतज्ञता एवं आभार व्यक्त किया कि उसने गांधीजनों को हृदयपूर्वक स्वीकार किया। अन्य सम्मानित अतिथि थे ऑट बी.टी.ए.डी. गांवबुड़ा एसोसिएशन के अध्यक्ष श्री गोपाल चन्द्र बासुमतरी एवं जी. पी. एफ. के टी. पी. केन्द्रों के संयोजक श्री रमेश शर्मा।

ज्ञातव्य है कि इस शांति प्रक्रिया का आरम्भ 'असम शांति यात्रा' के रूप में हुआ था; यह शांति यात्रा, जिसमें तीन सदस्यों की टीम शामिल है (श्री चंदनपाल, श्री धर्मेन्द्र राजपूत तथा टी. नटसूरिया महापात्र), अब भी जारी है।

शिविर के अलग-अलग दिनों में सुश्री राधाभट्ट, प्रोफेसर (डॉ.) रामजी सिंह, श्री बाबूलाल चौरसिया (ए.डी.सी., कोकराझार), श्री रमेश शर्मा, श्री हेम भाई, प्रोफेसर रहमान अली तथा श्री चंदनपाल ने शिविरार्थियों को संबोधित किया। इन सबने गांधीजी के जीवन तथा दर्शन की, विशेषकर शांति के संदर्भ में बात की। शिविर के दैनिक कार्यक्रमों में प्रातःकालीन व सांध्य सर्वधर्म प्रार्थना, प्रवचन, सफाई/श्रमदान, कक्षाएं, समूह-संवाद, खेल, सांस्कृतिक कार्यक्रम, साबुन, केश-तेल आदि बनाने का प्रदर्शन-प्रशिक्षण शामिल थे। गांधीजी के जीवन पर एक चित्र-प्रदर्शनी का भी आयोजन किया गया। कुल 37 सहभागियों में से 32 छात्र-छात्राएं विभिन्न स्कूल तथा कॉलेजों से थे और विभिन्न समुदायों के थे; इन सबने कुछ ग्रुपों द्वारा दी गयी 'टोटल बंद कॉल' के बावजूद शिविर में सहभागिता की। यह महत्वपूर्ण है कि समूह-संवादों की रिपोर्टों से यह जाहिर होता है कि इस युवा पीढ़ी ने स्थिति के अध्ययन के दौरान दो मुद्दों की पहचान की : (1) हत्याएं और (2) नशा; वे सभी इन प्रवृत्तियों के पूर्णतः विरुद्ध थे और सबने इनके विरुद्ध जूझने का संकल्प लिया। शिविर के सहभागियों को सर्टिफिकेट के साथ गांधीजी से संबंधित पुस्तकें प्रदान की गयीं।

—चंदनपाल

## होली : धूलिवंदन का उत्सव

□ दादा धर्माधिकारी

**त्यौहारों का सामाजिक स्वरूप :** हर त्यौहार का एक सामाजिक प्रयोजन और अभिप्राय होता है। नागपंचमी, दशहरा, दिवाली और होली, इन सभी उत्सवों का कोई न कोई सामाजिक हेतु और उद्देश्य जरूर रहा है। हमें उस इरादे को समझने की कोशिश करनी चाहिए। होली के मतलब को और इरादे को अगर हमने समझ लिया तो उसे आज किस रूप में या कहां तक मनाने की जरूरत है, इस बात का निर्णय करने में सहूलियत होगी।

हमारे सारे त्यौहार कौटुम्बिक और सामाजिक होते हैं। जो सिर्फ हमारे अपने खानदान के लिए होते हैं, उन्हें 'कुलाचार' कहते हैं, वे केवल हमारे घर में, हमारे अपने कुटुम्ब के लिए होते हैं। इनके अलावा कुछ त्यौहार ऐसे हैं जो सामाजिक होते हैं, जैसे दशहरा और दिवाली वगैरा। लेकिन इनमें भी अकसर यह पाया गया है कि मनुष्य सारे भेदभावों को, आदमी-आदमी में फर्क करने वाली सारी बातों को पूरी तरह भूल नहीं सकता। दिवाली में हम अकसर अपनी बराबरी के लोगों के यहां लक्ष्मी-पूजन या पानसुपारी के लिए जाते हैं। दशहरे में भी हम लोग अपनी ही श्रेणी के लोगों के घर 'सोना-चांदी' देने और मिलने-जुलने जाते रहे हैं। तिल-संक्रांत, भुजलियां आदि त्यौहारों के लिए भी यही बात लागू है। जहां तक खान-पान से संबंध है, हमारे सारे त्यौहार जात-पांत की सरहद में सीमित रहे हैं; पर जहां खान-पान के अतिरिक्त दूसरे सामाजिक व्यवहार से ताल्लुक है, वहां भी वे एक खास श्रेणी या जाति-समूह से बाहर नहीं फैल सके। हर श्रेणी ने अपने-अपने फिरके में अपने-अपने ढंग से त्यौहार मनाये हैं। आज तक यही प्रथा जारी है।

दूसरे त्यौहारों में और होली में एक बुनियादी फर्क है। नागपंचमी के दिन की पूजा होती है। मध्य प्रदेश में पोले के दिन (बैल की पूजा के त्यौहार पर) वृषभ-पूजन होता है। दशहरे के दिन शस्त्रपूजा और उपकरण-पूजा यानी हथियारों और औजारों की पूजा होती है। जिसका समाज-सेवा का जो उपकरण हो, उसकी वह पूजा करता है।

दशहरे में उत्पादक परिश्रम और रक्षणात्मक वीरता का महत्त्व है, इसलिए नयी फसल को ही स्वर्ण या सोना कह कर उसे एक-दूसरे को भेंट करते हैं। दिवाली के त्यौहार में लक्ष्मीपुत्र लक्ष्मीपूजन करते हैं। हमारे यहां आम तौर पर लक्ष्मी की प्रतिमा चावल की बनाते हैं और धानियों का प्रसाद बाँटते हैं। संकेत यह है कि धान्य ही असली 'धन' है; धातु 'धन' नहीं।

**धूलिवंदन की भूमिका :** होली के त्यौहार में शस्त्र-वंदन, उपकरण-वंदन या लक्ष्मी-वंदन की जगह धूलिवंदन का महत्त्व है। शस्त्र और लक्ष्मी के कारण मनुष्य को जो कृत्रिम प्रतिष्ठा मिलती है, तलवार और तिजोरी की बंदोबस्त समाज में उसे जो इज्जत मिलती है, उसे भुलाकर मनुष्य को धूलि के समान नम्र होना है। अपनी कारीगरी, कला-कौशल और उद्योग-धंधे के सारे अभिमान को ताक पर रखकर उसे छोटे से छोटे और हीन से हीन मनुष्य के साथ घुलमिल कर आमोद-प्रमोद करना है। एक दिन सारे भेदों को भुलाकर निम्नतम श्रेणी के मनुष्य के साथ घड़ी भर मौज करनी है। अपने-अपने सिंहासनों, तख्तों, मंचों और तख्तापोशों से उतर कर हीन-दनीन मानव के साथ बराबरी के नाते धूल में जाकर बैठना है। दूसरे सारे त्यौहारों में अछूत जातियों को शामिल नहीं किया जाता था। वे तो समाज के कँटीले तारों से बाहर ही रह जाते थे। उनके साथ मिलने-जुलने या बैठने-उठने का कोई सवाल ही नहीं था। धूलिवंदन का दिन अछूतों के साथ, मैला साफ करने वालों के साथ, गंदा रोजगार करने वालों के साथ मिलने-जुलने का दिन था; इसलिए उस दिन गधा भी सवारी के लायक समझा गया।

आमोद-प्रमोद और मनोविनोद के जो साधन ऊपर की श्रेणी के लोगों को मयस्सर होते हैं, वे नीचे वालों को नसीब नहीं होते। वे तो धूल और कीचड़ में ही काम करते हैं मोरियाँ और नालियाँ, पेशाब-घर और पाखाने उनके कार्यालय और कार्यक्षेत्र हैं। उन्हें गुलाल और रंग कहाँ नसीब हों? जो लोग खुशहाल हैं, वे गरीबों को ये सारी चीजें एक दिन के लिए

मुहैया करा दें, तो भी ऊपर वालों को अपना-अपना आसन छोड़ कर नीचे वालों की जगह तक आने की जरूरत नहीं होगी। इसलिए नीचे वालों की सतह पर आकर उन्हीं के साधनों से होली खेजना मुनासिब समझा गया और धूलिवंदन ही होली का उपलक्षण माना गया। उपलक्षण से मतलब है, किसी प्रथा या व्यवहार के इरादे को समझाने वाली कोई निशानी। धूलिवंदन होली के मतलब को समझाने वाला चिह्न या उपलक्षण है। होली का मतलब यह है कि मनुष्य अपने सारे सामाजिक भेद-भावों को भुलाकर समान भूमिका पर बराबरी के नाते एक-दूसरे के साथ हंसी-मजाक करें, खेलें-कूदें, खुशियां मनायें।

हमारे सामाजिक श्रेणी-भेदों के कारण हमारी रोज की बोलचाल की भाषा में भी बहुत बड़ा भेद पड़ गया है। ऊपर की श्रेणियों की भाषा शिष्ट-भाषा, कुलीन-भाषा समझी जाती है और नीचे वाली श्रेणियों की भाषा अनाड़ी भाषा, गँवारू भाषा, अनगढ़ भाषा समझी जाती है। आम तौर पर कोई शरीफ आदमी उस भाषा में बात करना भी अपनी शान के खिलाफ समझता है। इसलिए होली के दिन, जब कि वह झाड़ू को, धूलि को और गंधे को भी अपनाता है, तो उस दिन वह मामूली आदमी की अशिष्ट भाषा में भी बोलकर उसके साथ अपनी समानता एक दिन के लिए बतलाता है। इसी अभिप्राय से वह निचली श्रेणियों की बोलचाल में सहज आने वाली गाली-गलौज भी बर्दाश्त कर लेता है। उन्हें अपनी शिष्ट भाषा की अकड़ नहीं दिखाता।

**जन-जन की एकता का हेतु :** मतलब यह कि होली के त्यौहार का इरादा समाज के सभी फिरकों को एक-दूसरे से मिलाने का था। अछूत जातियाँ समाज-बाह्य थीं। स्वर्ण जातियों के दायरे से उन्हें बाहर रख जाता था। ब्राह्मण का भंगी के साथ कभी कोई अप्रत्यक्ष भी सम्पर्क नहीं आता था। यहाँ तक कि ब्राह्मण भंगी का शब्द भी सुनना अपनी मर्यादा के प्रतिकूल समझता था। ऐसे ब्राह्मण का भंगी के साथ स्पर्श और सम्पर्क जिस अवसर पर हो सकता था, उसे धूलिवंदन का उत्सव कहा गया।

**प्रस्तुति : बद्रीनाथ सहाय**

(सर्वोदय, फरवरी 1950 में प्रकाशित लेख का अंश)